ॐ

आचार्यश्री रत्ननंदी उर्फे रत्नकीर्तिजी विरचित

श्री भद्रबाहुचरित्र

हिंदी अनुवाद, मूल ११७ संस्कृत श्लोक सहित

अनुवाद कर्ता :

स्वर्गीय पं० उदयलाल कासलीवाल जैन (बडनगर नि०)

प्रकाशक :

मूलचंद किसनदास कापड़िया

दिगम्बर जैन पुस्तकालय, गांधी चौक - सूरत

तीसरीवार | वीर सं. २४९० | प्रति. १०००

'जैन विजय' प्रि. प्रेस - गांधी चौक - सूरतमें मूलचंद किसनदास कापडियाने मुद्रित किया।

मूल्य - दो रुपये

· निवेदन ·

इस भद्रबाहु स्वामी चरित्रकी दूसरी आवृत्ति हमने वीर सं. २४७९ ई. सन् १९५३ में स्व. सेठ किसनदास पूनमचन्द कापडिया (पूज्य पिताजी) के स्मरणार्थ ग्रन्थमाला न. ८ में प्रकट की थी वह भी खत्म हो जानेसे इसकी यह तीसरी आवृत्ति मूल संस्कृत श्लोक सहित ही प्रकट की जाती है।

यह ग्रन्थ आचार्य श्रीरत्ननन्दी उर्फ श्रीरत्नकीर्ति कृत संस्कृतमें था जिसका हिन्दी अनुवाद स्वर्गवासी पं. उदयलालजी काशलीवाल (बडनगरनिवासी) ने स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें रहकर किया था और उसे मूल संस्कृत श्लोक सहित छपाकर प्रकट किया था जिसको आज ५५ वर्ष हो चुके हैं।

इस ग्रन्थमें जैनोंके मूल दिगम्बर–निर्ग्रन्थ मतमेंसे ही श्वेताम्बर जैन मतकी स्थापना कब व कैसे संयोगोंमें हुई थी, उसका पूरा इतिहास है तथा दिगम्बर मत ही प्राचीन है और श्वेताम्बर मत अर्वाचीन है यह इस ग्रन्थके अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है।

पं. उदयलालजीने प्रथमावृत्तिमें इस पर बडी व पढ़ने योग्य प्रस्तावना लिखी थी उसको भी हमने अक्षरशः प्रकट की है तथा—

इस ग्रन्थके रचयिता आचार्यश्री रत्ननन्दीजी या रत्नकीर्तिजीके समय व कार्यके विषयमें विशेष ऐतिहासिक खोज करनेको हमने तीन चार विद्वानोंको लिखा था उनमेंसे जैन ऐतिहासज्ञ बाबू कामताप्रसादजी (अलीगंज) ने इस विषयमें एक "ऐतिहासिक विवेचन" बडी खोजपूर्वक लिखकर भेजा था जो साथमें प्रकट किया जाता है। जिससे पाठकोंको मालूम होगा कि भद्रबाहुचरित्रके कर्ता आ. रत्ननन्जी १३ वीं शताब्दिमें

थी थे? व इस विवेचनसे भी श्वेतांबर जैन मतकी उत्पत्ति कब व कैसे हुई थी, यह स्पष्ट मालूम होजाता है और दिगम्बर निर्ग्रन्थ जैनमत प्राचीन ठहरता है।

यह एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ है इस लिये इसको मूल संस्कृत श्लोक सहित ही प्रकट किया है जो संस्कृतज्ञ सज्जनोंके लिये तो बडा उपयोगी है।

आशा है कि इस ग्रन्थराजकी तीसरी आवृत्तिका भी शीघ्र प्रचार हो जायगा।

सूरत
वीर सं. २४९२ वि. सं. २०२३
द्वि. श्रावण सुदी १०
(अक्षय दशमी) ता. २५-८-६६

निवेदक—
मूलचंद किसनदास कापडिया
-प्रकाशक।

विषय-सूची

श्री भद्रबाहु चरित्र व उसके कर्ताके विषयमें–

ऐतिहासिक विवेचन

श्री भट्टारक रत्ननंदि अथवा रत्नकीर्ति आचार्यका रचा हुआ "भद्रबाहु चरित्र" नामक प्रस्तुत ग्रन्थ पुराणकोटिमें आता है। और पुराण ग्रन्थ भारतीय इतिहासकी परम्पराको जाननेके लिये उपयुक्त साधनोंमें एक मूल्यमयी साधन है। कदाचित् पुराणगत वार्ता अन्य स्रोतसे अबाधित हो, प्रत्युत दूसरे प्रकारसे उसका समर्थन शिलालेखादिसे होता हो तो वह प्रमाण मानी जाती है—ठोस इतिहास बनता है उससे। अतः "भद्रबाहु चरित्र" में वर्णित तथ्यों पर इस दृष्टिसे विचार करना अभीष्ट है।

कहा जाता है कि "भद्रबाहु चरित्र"के रचयिता श्री रत्ननंदि अथवा रत्नकीर्तिजी कोई प्राचीन आचार्य नहीं हैं। वह भद्रबाहुस्वामीसे सैकड़ों वर्षों बाद हुये—उनकी बात कैसे प्रमाणभूत हो? शङ्का निरर्थक नहीं है—ठीक है; परन्तु इस सम्बन्धमें एक बातको ध्यान रखना उचित है और वह यह है कि प्राचीन भारतमें ज्ञानकी परम्परा गुरु-शिष्योंकी लड़ीसे जुड़ती चली आई है। रत्ननंदीने जो लिखा वह पूर्व परम्परासे जो उनको मिला उसीको अपने शब्दोंमें लिख दिया—इसे इन्होंने अपने ग्रन्थको आदिमें ही यूँ व्यक्त कर दिया है:—

"शक्त्या हीनोऽपि वक्ष्येऽहं, गुरुभक्त्या प्रणोदितः ।
श्रीभद्रबाहुचरितं, यथा ज्ञातं गुरूक्तितः ॥ ७ ॥"

इस प्रकार "भद्रबाहुचरितत" में जो वार्तायें लिखी गई वे उस समय गुरुपरम्परामें चली आई प्राचीन अनुश्रुतियां थीं। अतः उन्हें 'अर्वाचीन' कहकर अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसंगमें श्रीरत्ननंदीजीके सम्बन्धमें कुछ जान लेना आवश्यक है। परन्तु दुर्भाग्यसे उन्होंने अपने विषयमें कुछ अधिक लिखा नहीं है। पट्टावलियोंमें इस नामके दो आचार्योंका उल्लेख हुआ है। पहले रत्ननंदीका समय विक्रम सं० ५६१ है और वह वीरनंदीके पश्चात् पट्टाधिकारी हुये थे।

दूसरे रत्ननंदि अथवा रत्नकीर्तिका समय वि० सं० १२९६ दिया हुआ है और वह भ० धर्मचन्द्रके पश्चात् पट्ट पर आरूढ़ हुये थे। उस समय पट्ट स्थान अजमेरमें था। "भद्रबाहु चरित्र"के आन्तरिक दिग्दर्शनसे यह दूसरे रत्ननंदीजी ही उसके रचयिता भासते हैं। उन्होंने शिक्षा–गुरु श्री ललितकीर्ति बताये हैं। पट्टावलीमें दूसरे रत्ननंदीसे पहले एक ललितकीर्तिजीका उल्लेख मिलता है जो वि० सं० १२५७में पट्टाभिषिक्त हुये थे। हमारे विचारसे यही ललितकीर्तिजी भ० रत्ननंदीके शिक्षागुरु थे।

इस प्रकार "भद्रबाहु चरित्र"के रचयिता विक्रमीय तेरहवीं शताब्दिके विद्वान ठहरते हैं, परन्तु उन्होंने जो लिखा वह पुराना था और गुरु परम्परासे उनको मिला था। इसमें एक आपत्ति

यह है कि 'भद्रबाहु चरित्र'में ढूंढिया मतकी उत्पत्तिका भी जिक्र है।

हो सकता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त हो! अथवा ग्रंथकारका समय सोलहवीं शताब्दि हो। इस ओर विशेष खोजकी आवश्यकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें रचयिताने निम्नलिखित बातोंपर प्रकाश डाला है:—

(१) भद्रबाहु नामक श्रुतकेवली हुये थे; जिनके उपदेशसे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त दिगम्बर जैन मुनि हो गये थे।

(२) उनके समयमें द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा था; जिसके कारण निर्ग्रन्थ संघ दक्षिण भारतकी ओर चला गया था;

(३) जो निर्ग्रन्थ श्रमण दुर्भिक्षके विषयमें उज्जैनके आसपास उत्तर भारतमें रह गये वे उसकी कठिनायोंको झेल न सके और श्रावकोंके अनुरोधसे उन्होंने खंड वस्त्र कलाई पर लटकाना प्रारंभ कर दिया एवं जिनकल्प और स्थविर कल्पकी सृष्टि कर ली कालान्तरमें पूर्वका "अर्द्धफाल" सम्प्रदाय बिल्कुल स्पष्ट होकर श्वेत वस्त्र धारण करने लगा और श्वेताम्बर नामसे प्रसिद्ध हो गया।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तके गुरुशिष्यत्व और द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी वार्ता एक निर्णीत इतिहास मानी गई है; जो प्राचीनतम साहित्य (जैसे तिलोयपण्णत्ति) एवं शिलालेखीय साक्षीसे प्रमाण-

भूत सिद्ध है। अतः उसके विषयमें ऊहापोह करना आवश्यक नहीं। रह जाती है तीसरी बात कि क्या पहले अर्द्धफालक सम्प्रदाय हुआ और वही श्वेताम्बर सम्प्रदायमें परिवर्तित हो गया? रत्ननंदिजीका यह लिखना कहां तक ठीक है, यह विचारणीय है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यदि विचार करें तो भी यही भासता है कि प्राचीन प्रथाका मूलोच्छेदन और परिवर्तन एकदम नहीं हो जाता —वह धीरे२ ही बदलती और स्पष्ट होती है। पहले उसके विद्रोहमें बीज बोया जाता है—वह छोटे रूपमें अंकुरित होता है और फिर पनप कर बड़ा हो जाता है—उसका अपना अस्तित्व बन जाता है। श्वेताम्बरोंके सम्बन्धमें भी ऐसा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं! परन्तु प्रश्न यह है कि क्या रत्ननंदीजीसे पहले भी किसी आचार्यने "अर्द्धफालक" सम्प्रदायका उल्लेख किया है? हां, श्री हरिषेणजीने अपने "कथाकोष"में उसका उल्लेख किया है जिसे उन्होंने वि० सं० ९८९ में रचा था। इसके अतिरिक्त मथुरासे उपलब्ध कुशनकालीन पुरातत्वसे "अर्द्धफालक" सम्प्रदायकी सिद्धि होती है।

मथुराके "कंकाली टीला" से कुछ ऐसे प्राचीन आयागपट्ट मिले हैं, जिनमें जैन साधु यद्यपि नग्न बताये गये हैं; परन्तु वे अपनी नग्नताको एक कपड़ेके टुकड़ेसे छिपाते हुये अंकित किये गयेहैं। हरिषेणजी भी यही लिखते हैं कि कपड़ेके टुकड़ेसे वह

साधु नग्नताको बांये हाथसे छुपाते थे और दक्षिण हाथमें कमंडलु अथवा भिक्षा पात्र लेते थे।

यावन्न शोभनः कालो, जायते साधवः स्फुटम्।
तावच्च वामहस्तेन, पुरः कृत्वाऽर्धफालकम् ॥ ५८ ॥
भिक्षापात्रं समादाय, दक्षिणेन करेण च।
गृहीत्वा नक्तमाहारं, कुरुध्वं भोजनं दिने ॥ ५९ ॥

कथा नं० १३२

मथुराके पुरातत्वमें बौद्धस्तूपवाले शिलापट्टमें जो दिगम्बर साधु अङ्कित हैं उनकी कलाई पर एक कपड़का टुकड़ा पड़ा हुआ है। (देखो चित्र नं० १)।

डॉ० बुल्हरका हवाला देते हुए श्री चीमनलाल शाहने यह स्पष्ट रूपमे स्वीकार किया है :—

"The Vodva Stupa . ...the male figure on the right of **Dharmchakra** is considered by Dr. Buhler to be that of a naked ascetic, who, as usual, has a piece of cloth hanging over his right arm."—*Jainism in North India P. 257.*

इसी प्रकार प्लेट नं० २२ में कण्हश्रमणको नग्न अङ्कित करके उनकी कलाई पर भी खंडवस्त्र लटकता उकेरा गया है। श्वेतांबर परम्परामें कण्हश्रमण प्रमुखस्थान रखते हैं। कण्ह-श्रमणका दूसरा हाथ आयागपट्टमें पीछी लिये हुये उनके कन्धेपर है। वह किसी राजमहिषीको उपदेश दे रहे हैं व

एक नागकन्या उनके पीछे खड़ी हुई है। (देखो चित्र नं० २)

श्री रत्ननन्दीजीने भी 'भद्रबाहु चरित्रमें स्पष्ट लिखा है कि जब एक सेठानी निर्ग्रन्थ श्रमणोंके नंगे रूपसे डरी तो सेठानीकी प्रार्थना पर उन साधुओंने एक 'आधा बस्त्र' स्वीकार कर लिया जिससे वह अपनी नग्नता छिपाने लगे; (धृत्वा सुरलकं शीर्षे परिधायार्द्धफालकम्)

इसी प्रकार नैगमेश–पट्टमें भी जो मथुराके कंकालीटीलासे मिला था, एक साधुका चित्रण अर्द्धफालक वेषमें किया गया है। (देखो चित्र नं० ३) डॉ० बुल्हरने उसके विषयमें यही लिखा है।

"At his (Nemesa's) left knee stands a small naked male, characterised by the cloth in his left hand, as an ascetic with uplifted right hand."

—*Dr. Bulher, (Ep. Indica I 316)*

पुरातत्वकी इस प्राचीन साक्षीसे स्पष्ट है कि ईस्वी सन्‌के प्रारंभिक एवं उसके कुछ समय पहलेसे निर्ग्रन्थ साधु यद्यपि रहते नग्न थे; परन्तु अपनी नग्नता छिपानेके लिए कपड़ेका टुकड़ा काममें लाते थे। इस प्रकारके साधुओंके संघको "अर्द्धफालक" सम्प्रदाय कहा गया है। यही सम्प्रदाय आगे चलकर श्वेताम्बर सम्प्रदायके नामसे वि० सं० १३६ में स्पष्ट हो गया। प्रारंभमें उसका उल्लेख "निर्ग्रन्थ श्वेतपट् महाश्रमण संघ" नामसे होता

था—उपरान्त वह श्वेताम्बर कहलाया।* दिगम्बर सम्प्रदाय पहले 'निर्ग्रन्थ श्रमण संघ' के नामसे प्रसिद्ध रहा—उपरान्त वह 'दिग्वास' और फिर 'दिगम्बर' नामसे प्रचलित हो गया।

इस प्रकार यह "भद्रबाहु चरित्र" में बताई गई मुख्य बातें ऐतिहासिक तथ्यको लिये हुये प्रमाणित होती हैं। उनका समर्थन पुरातत्वकी स्वतन्त्र साक्षीसे होता है।

अलीगंज (एटा) ७-७-१९५३ }

विनीत—
कामताप्रसाद जैन।

*कदम्बवंशीय राजा श्री विजयशिवमृगेश वर्माके देवगिरिवाले दानपत्रमें दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंको साथ साथ दान देनेका उल्लेख इन शब्दोंमें है—

" द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्तसद्धर्मकरणपरस्य। श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगाये हि।"

मथुराके कुछ लेखोंमें भी दिगम्बरोंका उल्लेख 'निर्ग्रन्थ' नामसे हुआ है। इसके लिये हमारा अंग्रेजी लेख देखना चाहिये जो कि 'जर्नल ऑव दी यू० पी० हिस्टोरीकल सोसाइटी' में छपा था।

प्रथमावृत्तिकी प्रस्तावना।

पाठक महाशय !

जिस ग्रंथकी प्रस्तावना लिखनेका हम आरंभ करते हैं वह वास्तवमें बहुत महत्त्वका है। ग्रंथकर्त्ताने इस ग्रंथका संकलन कर जैन जातिका बड़ा भारी उपकार किया है। इस ग्रंथके निर्माताका नाम है श्री रत्नंदी। आपके विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी हमारी उत्कण्ठा थी परंतु जैन समाज ऐतिहासिक विषयोंकी खोज करनेमें संसारमें सबसे पीछा पिछड़ा हुआ है और यही कारण है कि आज कोई किसी जैनाचार्यकी जीवनी लिखना चाहे तो पहले तो उसे सामग्री ही नहीं मिलेगी। यदि विशेष परिश्रमसे कुछ भाग कहीं पर मिल भी गया तो वह उतना थोड़ा रहता है जिससे पाठकोंकी इच्छा पूरी नहीं हो सकती।

इसका कारण यदि हम यह कहें कि "जैनियोंमें शिक्षाका प्रचार बहुत कम हो गया है और इसीसे कोई किसी विषयकी खोजमें नहीं लगता है" तो कोई अनुचित नहीं होगा। क्योंकि ऐतिहासिक बातोंका शिक्षासे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। आज संसारमें बुद्धका नाम इतना प्रसिद्ध है कि बच्चा २ उन्हें जानने लगा है। परन्तु जैन इतने महत्त्वका होकर भी उसे बहुत कम जानते हैं। इसका कारण क्या है? और कुछ लोग जानते भी

हैं तो उनमें कितने ऐसे हैं जो जैन मतको स्वतंत्र मत न समझ कर बौद्धादिकी शाखा–विशेष समझते हैं।

इसे हम जैनियोंकी भूल छोड़कर दूसरोंकी गल्ती नहीं कह सकते। क्योंकि—जिस प्रकार बौद्धोंका इतिहास प्रसिद्ध होनेसे उन्हें सब जानने लग गये, यदि उसी प्रकार जैनियोंका इतिहास आज यदि संसारमें प्रचलित होता तो क्या यह संभव था कि जैनी लोग योंही संसारके किसी कोनेमें पड़े२ सड़ा करते? हम इस अन्ध श्रद्धा पर विश्वास नहीं कर सकते। क्या आज जैनियोंमें विद्वान, महात्मा तथा परोपकारी पुरुषोंकी किसी तरह कमी है जो उनके प्रसिद्ध होनेमें कोई प्रतिबन्ध हो? नहीं। हां यदि कमी है तो उस प्राचीन महार्षियोंके वास्तविक ऐतिहासिक वृत्तान्तकी। यदि जैन समाज इस बात पर लक्ष देगा और इस विषयकी खोजमें जी जानसे लगेगा तो कोई आश्चर्य नहीं कि वह फिर भी अपने पूर्वजोंका उज्वल सुयशस्थम्भ संसारके एक छोरसे लेकर दूसरे छोरतक गाढ़ दे। और एक वक्त सारे संसारमें जैनधर्मका वास्तविक महत्व प्रगट कर दे।

क्योंकि—

उपाये सत्युपयेस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धना।
पातालस्थं जवं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यतः॥

प्राप्त होनेवाली वस्तुके लिये उपाय किया जाय तो उसमें कोई प्रतिरोधक नहीं हो सकता। क्योंकि–यंत्रके द्वारा तो पातालसे भी जल निकाल लिया जाता है।

हमारे ग्रंथकारका भी इतिहास गाढान्धकारमें पड़ा हुआ है और न हमारे पास सामग्री ही है जो उसे अंधकारसे निकालकर उजालेमें ला सकें। अस्तु, ग्रंथकारने ग्रंथके अंतिम श्लोकमें कुछ अपना परिचय दिया है उसीपर कुछ श्रम करके देखते हैं कि हम कहां तक सफल मनोरथ होंगे?

वादीभेन्द्रमदप्रमर्दनहरेः शीलामृताम्भोनिधेः
शिष्यं श्रीमदनन्तकीर्त्तिगणिनः सत्कीर्त्तिकान्ताजुषः।
स्मृत्वा श्रीललितादिकीर्त्तिमुनिपं शिक्षागुरुं सद्गुणं
चक्रे चारु चरित्रमेतदनघं रत्नादिनन्दी मुनिः॥

भाव यह है कि परवादीरूप गजराजके मदका नाश करनेवाले, शीलामृतके समुद्र और उज्वल कीर्ति-कांतासे विराजित श्री अनन्तकीर्ति महाराजके शिष्य और अपने विद्यागुरु श्री ललितकीर्ति मुनिराजका हृदयमें स्मरण कर रत्ननन्दी मुनिने यह निर्दोष चरित्र बनाया है। यही ग्रन्थकारके इतिहासकी नींव है। अथवा यों कहिये कि पहली सीढ़ी है।

पाठक स्वयं विचारें कि यह नींव कहां तक काम आ सकेगी? खैर! इस श्लोकसे यह तो मालूम हो गया कि रत्ननंदी ललितकीर्ति मुनिके शिष्य हैं। और ललितकीर्ति श्री अनन्तकीर्ति आचार्यके शिष्य हैं। इन महानुभावोंका संसारमें कब अवतार हुआ है यह निश्चय करना तो जरा कठिन है। परन्तु भद्रबाहु चरित्रमें श्री रत्ननन्दीने एक जगह

लिखा है कि—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥
लुङ्कामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः ।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥
अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत् ।
लुङ्काभिधो महामानी श्वेतांशुकमताश्रयी ॥
दुष्टात्मा दुष्टभावेन कुपितः पापमण्डितः ।
तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लुङ्कामतमकल्पयत् ॥

अर्थात्—महाराज विक्रमकी मृत्युके बाद १५२७ वर्ष बीत जानेपर गुजरात देशके अणहिल नगरमें कुलुम्बी वंशीय एक महामानी लुङ्का नामक श्वेतांबरी हुआ है। उसी महामानी तीव्र मिथ्यात्वके उदयमें लुङ्कामत (ढूंढियामत) का प्रादुर्भाव किया। यह मत प्रतिमाओंको नहीं मानता है।

ग्रन्थकारके इस लेखमें यह सिद्ध होता है कि विक्रम सं० १५२७ के बाद वे हुये हैं। क्योंकि तभी तो उन्होंने अपने ग्रन्थमें ढूंढियोंका उल्लेख किया है। परंतु यह खुलासा नहीं होता कि उनके अवतारका निश्चित समय क्या है? सुदर्शन चरित्रके रचयिता एक जगह रत्नकीर्तिका उल्लेख करते हैं—

मूलसंघाग्रणीर्नित्यं रत्नकीर्तिगुरुर्महान् ।
रत्नत्रयपवित्रात्मा पायान्मां चरणाश्रितम् ॥

यद्यपि भद्रबाहु चरित्रके रचयिताने अपना नाम रत्ननंदी लिखा है परन्तु आश्चर्य नहीं कि उन्हें उनसे पीछेके मुनियोंने रत्नकीर्ति नामसे भी लिखे हों। क्योंकि रत्ननंदी और रत्नकीर्तिके समयमें विशेष अंतर नहीं दीखता। इससे भी यही प्रतीत होता है कि रत्ननन्दीको ही सुदर्शन-चरित्रके रचयिता विद्यानन्दीने रत्नकीर्ति लिखा है। ये विद्यानंदी भट्टारक हैं। इनके गुरुका नाम है देवेन्द्रकीर्ति जैसा कि सुदर्शन चरित्रके इस लेखमें जाना जाता है—

जीवाजीवादितत्वानां समुद्योतदिवाकरम्।
वन्दे देवेन्द्रकीर्तिं च सूरिवर्यं दयानिधिम्॥
मद्गुरुर्यो विशेषेण दीक्षालक्ष्मीप्रसादकृत्।
तमहं भक्तितो वन्दे विद्यानंदी सुसेवकः॥

भावार्थ—जीवाऽजीवादि तत्वोंके प्रकाश करनेमें सूर्यकी उपमा धारण करनेवाले और दयासागर श्री देवेन्द्रकीर्त्ति आचार्यके लिये में अभिवंदन करता हूं, जो विशेषतया मेरे गुरु हैं। इन्हींके द्वारा मुझे दीक्षा मिली है।

देवेन्द्रकीर्त्ति भट्टारक विक्रम संवत् १६६२ में सांगानेरके पट्टपर नियोजित हुये थे। इनके बनाये हुये बहुतसे कथाकोषादि ग्रंथ हैं। इससे यह सिद्ध तो ठीक तरह हो गया कि सुदर्शन-चरित्रके कर्त्ता विद्यानन्दी भी विक्रम सं० १६६२के अनुमानमें हुये हैं। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि-रत्नकीर्ति और

रत्ननन्दी एक ही होने चाहियें। क्योंकि भद्रबाहुचरित्रको दोनोंके बनाये हुये लिखे हैं। परन्तु रत्ननन्दीके भद्रबाहु चरित्रको छोड़कर रत्नकीर्तिका भद्रबाहुचरित्र अभी तक देखनेमें नहीं आता और न इन दोनोंके समयमें विशेष फर्क है।

भद्रबाहुचरित्रके अनुसार रत्ननंदीका समय वि० १५२७के ऊपर जचता है और विद्यानंदीसे सुदर्शनचरित्रके अनुसार रत्नकीर्त्तिका समय भी १६६२ के भीतर होना चाहिये। वैसे अंतर है १३५ वर्षका है परंतु विचार करनेमे इतना अंतर नहीं रहता है। भद्रबाहुचरित्रमें जो रत्ननंदीने ढूंढियोंके मतका प्रादुर्भाव वि० १५२७ में हुआ लिखा है इससे रत्ननंदीका ढूंढियोंसे पीछे होना तो सहज सिद्ध है। परंतु वह कितना पीछे यह ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि अनुमानसे यह कहें कि उस समय ढूंढियोंको पैदा हुजे सौ सवासौ वर्ष हो जाने चाहिये तो वि० १६२५ के आसपास उनका होना जाना जाता है यह बात भद्रबाहु चरित्रमें ढूंढियोंकी उत्पत्तिसे जानी जाती है।

दूसरे भद्रबाहु-चरित्रके बनानेवाले रत्ननंदी तथा रत्नकीर्त्तिके एक होनेमें यह भी एक प्रमाण मिलता है कि जहां परिच्छेद पूरा होता है वहां रत्ननंदी तथा रत्नकीर्त्ति इन दोनोंका नाम पाया जाता है। इसलिये यही निश्चित होता है कि भद्रबाहु-चरित्रके बनानेवाले दोनों महानुभाव एक ही हैं। वैसे रत्नकीर्ति और भी हुये हैं। पाठक यदि इस विषयमें

परिचित हों तो अनुग्रह करें, पुनरावृत्तिमें ठीक कर दिया जावेगा।

रत्ननंदी किस कुलमें तथा किस देशमें हुये हैं यह ठीकर नहीं जाना जा सकता। जिससे कि हम उनके विषयमें कुछ और विशेष लिख सकें। और न हमारे पास विशेष साधन ही हैं।

रत्ननन्दीने भद्रबाहुचरित्रमें एक जगह यह लिखा है कि—

श्वेतांशुकमतोद्भूतमूढान् ज्ञापयितुं जनान्।
विरचितमिमं ग्रन्थं न स्वपाण्डित्यगर्वतः॥

इससे यह जाना जाता है कि उनके भद्रबाहुचरित्रके लिखनेका असली अभिप्राय श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति तथा उनकी जिन शासनसे बहिर्भूतता बताना था। हम भी कुछ प्रकरणानुसार श्वेतांबर मतके बाबत विचार करेंगे— पाठक जरा पक्षपात रहित तात्त्विक दृष्टिसे दोनों मतकी तुलना करें कि प्राचीन मत कौन है? और कौन उपादेय तथा जीवोंके सुखका साधन है?

श्वेतांबर और दिगम्बरोंमें जो मतभेद है वह तो रहे। सबसे पहले हम अपने लेखमें यह बात सिद्ध करेंगे कि दोनोंमें प्राचीन मत कौन है? और किसका पीछेसे प्रादुर्भाव हुआ है? इस विषयका पर्यालोचन करनेसे दोनों मतवाले दोनोंकी उत्पत्ति अपने अपनेसे कहते है। इसलिये हम सबसे पहले दोनोंकी ओरसे एक एककी उत्पत्तिका उपक्रम दोनों संप्रदायके ग्रंथोंके अनुसार लिख देते है—

श्वेतांबर लोग कहते हैं कि—

दिगम्बरस्तावत्—श्रीवीरनिर्वाणनवोत्तरषट्शतवर्षातिक्रमे शिवभूत्यपरनाः सहस्रमल्लनम्नः सञ्जातः—

यथा—छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइयासिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो बोडिआण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ (प्रवचनपरीक्षा)

भावार्थ—श्री वीरनाथके मुक्ति जानेके ६०९ वर्ष बाद रथवीरपुरमें शिवभूति (सहस्रमल्ल) से दिगम्बरोंकी उत्पत्ति हुई है। इसका हेतु यों कहा जाता है—

'रहवीरेत्याद्यार्यात्रयाणामयमर्थः'—

तात्पर्य यह है कि—रथवीरपुरमें एक शिवभूति रहता था। उसकी स्त्री अपनी सासुके साथ लड़ा करती थी। उसका कहना था कि—तुम्हारा पुत्र रात्रिके समय बाहर २ बजे सोनेके लिये आता है सो मैं कबतक जगा करूं। शिवभूतिकी माताने इसके उत्तरमें कहा कि—आज तू सोजा और मैं जागती हूं। बाद यही हुआ भी। शिवभूति सदाके अनुसार आज भी उसी समय घर आये और किवाड़ खोलनेके लिये कहा तो भीतरसे उत्तर मिला कि—इस समय जहां दरवाजा खुला हो वहींपर चले जाओ*। शिवभूति माताकी भर्त्सनासे चल दिये।

---

*क्यों पाठकों! आपने भी यह बात कभी भी सुनी है कि—जरासे स्त्रीके कहनेमें आकर माता अपने हृदयके टुकड़ेको अपनेसे जुदा कर सकती है? जिसके विषयमें दृष्टांत कहावत प्रसिद्ध

घूमते हुये उन्हें एक साधुओंका उपाश्रय खुला हुआ दीख पड़ा। शिवभूतिने भीतर जाकर साधुओंसे प्रव्रजाकी अभ्यर्थना की। परन्तु साधुओंको उनकी अभ्यर्थना स्वीकृत नहीं हुई। × तब निरुपाय होकर वे स्वयं प्रव्रजित हो गये। फिर साधुओंकी भी कृपा हो गई सो उन्होंने शिवभूतिको अपनेमें शामिल कर लिया। बाद साधु लोग वहांसे बिहार कर गये।

कुछ कालके बाद फिर भी उसी नगरमें उन सब साधुओंका आना हो गया। उस समय वहांके राजाने शिवभूतिको एक रत्नकम्बल दिया। उसे देखकर साधुओंने शिवभूतिसे यह कह कर कि—साधुओंको रत्नकम्बल लेना उचित नहीं है छीन लिया। और उसके टुकड़े२ करके रजोहरणादिके काममें लाने लगे। साधुओंके ऐसे वर्त्तावसे शिवभूतिको बहुत दुःख पहुंचा।

किसी समय उस संघके आचार्य जिनकल्प साधुओंका स्वरूप कह रहे थे तब शिवभूतिने यह जाननेकी इच्छा की कि जब जिनकल्प निष्परिग्रह होता है तो आप लोगोंने यह आडम्बर किस लिये स्वीकार किया? वास्तविक मार्ग क्यों नहीं अंगीकार करते हैं? इसके उत्तरमें गुरुमहाराजने कहा कि

है कि "पुत्र चाहे कुपुत्र भले हो होजाय परन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती" तो यह कल्पना कहांतक ठीक है? बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये।

× शिवभूतिको उस समय दीक्षा क्यों नहीं हो गई? और जब इन्कार ही था तो फिर क्यों दीगई? कुछ विशेष हेतु होना चाहिये।

इस विषम कलिकालमें जिनकल्प कठिन होनेसे धारण नहीं किया जा सकता। जम्बूस्वामीके मोक्ष जाने बाद जिनकल्प नाम शेष रह गया है। शिवभूतिने सुनकर उत्तरमें कहा कि— देखिये तो मैं इसे ही धारण करके बताता हूं। इसके बाद गुरुने भी उसे बहुत समझाया परन्तु शिवभूतिने एक न सुनी और जिनकल्प धारण कर ही तो लिया। यही श्वेतांबरियोंके शास्त्रोंमें दिगम्बरियोंकी उत्पत्तिका हेतु है। इसकी समीक्षा तो हम आगे चलकर करेंगे। अब जरा दिगम्बरोंका भी कथन सुन लीजिये—

वामदेव (जो वि० की दशमी शताब्दिमें हुये) है उन्होंने भाव संग्रहमें लिखा है कि—

भाव यह है—विक्रमराजाकी मृत्युके १३६ वर्ष बाद जिनचन्द्रके द्वारा श्वेताम्बर मतका संसारमें आविर्भाव हुआ। कारण यह है कि उज्जयिनीमें श्रीभद्रबाहु मुनिराजका संघ आया। भद्रबाहु मुनि अष्टाङ्ग निमित्त (ज्योतिषशास्त्र) के बड़े भारी विद्वान थे। निमित्त ज्ञानसे जानकर उन्होंने सब मुनियोंसे कहा कि—देखो! यहां बारह वर्षका घोर दुर्भिक्ष पड़ेगा। सब साधु लोग उनके वचनोंपर दृढ़ विश्वासकर अपने २ गणके साथ दूसरे देशकी ओर चले गये। क्योंकि श्रुतज्ञानीके वचन कभी अलीक नहीं हो सकते। वैसा हुआ भी। सो एक दिन शान्त्याचार्य विहार करते हुये वलभीपुरीमें चले आये और वहींपर रहने लगे।

उज्जयिनीमें भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। वह यहां तक कि

भिक्षुक लोग एक एकका उदर फाड़कर भीतरका अन्न निकाल२ कर खाने लगे। उस समय साधु लोग वास्तविक मार्गको नहीं रख सके। परन्तु किसी तरह अपना पेट तो भरना ही पड़ता था। इसलिये धीरे२ शिथिल होकर वस्त्र, दण्ड, भिक्षापात्र, कम्बलादि धारण कर लिये। इसी तरह अब कितना काल बीता और सुभिक्ष हुआ तब शान्त्याचार्यने अपने सब संघको बुलाकर कहा कि—अब इस बुरे मार्गको छोड़ो और वास्तविक सुमार्ग अङ्गीकार करो। उस समय जिनचन्द्र शिष्यने कहा कि—हम यह वस्त्रादि रहित मार्ग कभी नहीं स्वीकार कर सकते। और न इस सुखमार्गका परित्याग ही कर सकते हैं। इसलिये आपका इसीमें भला है कि—आप चुप साध जावें।

शान्त्याचार्यने फिर भी समझाया कि तुम भले ही इस कुमार्गको धारण करो परन्तु यह मोक्षका साधन नहीं हो सकता, हां उदर भरनेका बेशक साधन है। शान्त्याचार्यके बचनोंसे जिनचन्द्रको बड़ा क्रोध आया और उसी अवस्थामें उसने अपने गुरुके शिरकी दण्डों २ से खूब अच्छी तरह खबर ली-जिससे उसी समय शान्त्याचार्य शांत परिणामोंसे मर कर व्यन्तर देव हुये। और अपने प्रधान शिष्य जिनचन्द्रको शिक्षा देने लगे। उससे वह डरा सो उनकी शांतिके लिये उसने आठ अँगुल चौड़ी तथा लम्बी एक काठकी पट्टी बनाई और उसमें शान्त्याचार्यका संकल्प कर पूजने लगा सो वह उसी रूपमें आज भी लोकमें जलादिसे पूजा जाता है।

अब तो वही पर्युपासन नाम कुलदेव कहलाने लगा। बाद श्वेत वस्त्र धारण कर उसकी पूजन की गई तभीसे लोकमें श्वेतांबर मत प्रख्यात हुआ। *

यही दोनों मतोंके शास्त्रका सिद्धांत है। इसमें किसका कहना सत्य है तथा कौन पुरातन है वह जरा पर्यालोचनसे आगे चलकर अवगत होगा। दिगम्बरियोंकी उत्पत्ति बाबत श्वेतांबर लोगोंका कहना है कि ये लोग विक्रमकी २ री शताब्दिमें हुये हैं। अस्तु, यदि थोडी देरके लिये यही श्रद्धान कर लिया जावे तौभी उसमें यह सन्देह कैसे निराकृत हो सकेगा?

श्वेतांबर भाइयोंके पास अपने ग्रंथोंके लिखे हुये प्रमाणको छोड़कर और ऐसा कौन सुदृढ़ प्रमाण है जिससे सर्व-साधारणमें यह विश्वास हो जाय कि यथार्थमें दिगम्बर मतका समाविर्भाव

---

* हमारे पाठकोंको यह सन्देह होगा कि—भद्रबाहुचरित्रमें तो स्थूलाचार्य मारे गये लिखे हैं और भावसंग्रहमें शान्त्याचार्य सो यह फर्क क्यों?

मालूम होता है कि—शान्त्याचार्यहीका अपर नाम स्थूलाचार्य है क्योंकि यह बात तो दोनों ग्रन्थकारने मानी है कि—श्वेतांबर मतका संचालक जिनचन्द्र हुआ है और उन्होंने दोनोंका उसे शिष्य भी बताया है। दूसरे दर्शनसारमें भी शान्त्याचार्यके शिष्य जिनचन्द्रके द्वारा ही श्वेतांबर मतकी उत्पत्ति बतलाई गई है और यह ग्रन्थ प्राचीन भी अधिक है। इसलिये हमारी समझमें तो स्थूलाचार्यका ही दूसरा नाम शान्त्याचार्य था, ऐसा ही जचता है और न ऐसा होना असम्भव ही है।

विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें हुआ है ? क्योंकि प्रतिवादीका संशय दूर करनेके लिए ऐसे प्रमाणकी बड़ी भारी जरूरत है। हमने दिगम्बर मतके खण्डनमें श्वेतांबर सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंकी बनाई हुई कितनी पुस्तकें देखीं परंतु आजतक किसी विद्वानने प्रबल प्रमाणके द्वारा यह नहीं खुलासा किया—जैसा श्वेतांबर शास्त्रोंमें दिगम्बरोंका उल्लेख किया गया है। इसलिये यातो इस विषयको सिद्ध करना चाहिये अन्यथा हरिभद्रसूरिके इन वचनोंका पालन करना चाहिये कि —

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

केवल कथन मात्रसे निष्पक्षपाती होनेकी डींग मारनेको कोई बुद्धिमान भला नहीं कहता। जैसा कहना वैसा परिपालन भी करना चाहिये। उपदेश केवल दूसरोंके लिये ही नहीं होता किन्तु स्वतः भी उसपर लक्ष्य देना चाहिये।

हम यह बात तो आगे चलकर बतावेंगे कि पुराना मत कौन है ? और कौन यथार्थ है ? इस समय श्वेताम्बरियोंने जो दिगंबरियोंकी बाबत कथा लिखी है उसीकी ठीक २ समीक्षा करते हैं—

श्वेताम्बरियोंने यह बात तो अपने आप स्वीकार की है कि शिवभूतिने जिस मतका आदर किया था वह जिनकल्प हैं। और उसे खास इसी कारणसे ग्रहण किया था कि और साधुलोग जो

जिनकल्प छोड़े हुये बैठे थे वह उचित नहीं था। सो उसका प्रचार हो। इससे दिगम्बरियोंको तो बड़ा भारी लाभ हुआ जो अनायास उनका मत प्राचीन सिद्ध हो गया। अरे! जिनकल्प पहले था तभी तो शिवभूति गुरुके मुखसे उसका कथन सुनकर उसके धारण करनेमें निश्चल प्रतिज्ञ हुआ।

इसमें उसने नवीन मत क्या चलाया? जो पुराना था, जिसे तुम लोग उच्छेद हुआ बताते हो वह नवीन तो नहीं है। नवीन उस हालतमें कहा जाता जब कि जिनकल्पको जैनशास्त्रोंमें आदर न मिलता। सो तुम भी निर्वाद स्वीकार कर चुके हो। उसमें उस समय तुम्हारा विरोध भी तो यही था न? जो कलियुगमें इसका व्युच्छेद हो गया है इसलिए धारण नहीं किया जा सकता। और यही कहकर शिवभूतिको समझाया भी था। यदि तुमने उसे कलियुगके दोष मात्रसे हेय समझकर उपेक्षा की तो हम तो यही कहेंगे कि तुम्हारी शक्ति इतनी न थी जो उसे धारण कर सको? अस्तु, परन्तु केवल तुम्हारे धारण न करनेसे मार्ग तो बुरा नहीं कहा जा सकता। भला ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो एक मिथ्यादृष्टिकी निन्दासे पवित्र जैनधर्मको बुरा समझने लगेगा।

कदाचित् कहो कि—शिवभूतिने जो मत धारण किया है वह जिनकल्प भी नहीं है किन्तु जिनकल्पका केवल नाम मात्र है। वास्तवमें उसे कोई और ही मत कहना चाहिये।

यह कहना भी ठीक नहीं है और न उस ग्रंथ ही से यह अभिप्राय निकलता है। वहां तो खुलामा लिखा हुआ है कि—जिनकल्पका व्युच्छेद होजानेमे कलियुगमें वह धारण नहीं किया जा मकता। इम विषयको देखते हुये दिगम्बरियोंका श्वेतांबरियोंके बाबत जो उल्लेख है वह बहुत ही निराबाध तथा सत्य जंचता है। बडी भारी बात तो यह है कि—जैमा दिगम्बरी लोग श्वेताबरियोकी बाबत लिखते हैं उमी तरह वे भी स्वीकार करते हैं, जरा देखिए तो—

संयमो जिनकल्पस्य दुःसाध्योऽयं ततोऽधुना।
व्रतं स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम्॥

तथा—

दुर्द्धरो मूलमार्गो यं न धर्तुं शक्यते ततः।

कहिये जैसा दिगम्बरी लोग उनकी उत्पत्तिके बाबत वास्तविक मार्गका छोड़ना बताते हैं श्वेताम्बरी लोग भी तो वही बात कहते हैं कि—जिनकल्प वास्तवमे सत्य है। परन्तु कालकी करालतामें उमका व्युच्छेद हो गया है। इमलिये वह अब बहुत ही कठिन है। सो उमे हम लोग धारण नहीं कर सकते। यही पाठ शिवभूतिमे भी कहा गया था न ? तो अब पाठक ही विचारें कि कौन मत तो पुरातन है और किसका कहना वास्तवमें सत्पथका अनुशरण करता है ?

यह बात तो हमने श्वेताम्बरी लोगोंके ग्रन्थोंसे ही बताई

है और उन्हींसे दिगम्बर मत पुरातन सिद्ध होता है। जब स्वयं अपने शास्त्रोंमें ही ऐसी कथा है जो स्वयं अपनेको बाधित ठहराती है—फिर भी आग्रहसे दूसरोंको बुरा कहना भूल है। जरा हमारे श्वेताम्बरी भाई यह बात सिद्ध तो करें कि दिगम्बर मत आधुनिक है? वे और तो चाहे कुछ कहें परन्तु अपने ग्रंथका किस रीतिसे समाधान करते हैं यही बात हमें देखना है।

दिगम्बर लोग श्वेताम्बरियोंकी बाबत कहते हैं कि यह मत विक्रम संवत १३६ में निकला। उसी तरह श्वेताम्बर दिगम्बरियोंके बाबत लिखते हैं कि—वि० सं० १३८ में दिगम्बर मत श्वेताम्बरसे निकला। दोनों मतोंकी कथा भी हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं। सार किसके कहनेमें है यह बात बुद्धिमान पाठक कथा पर ही से यद्यपि अच्छी तरह जान सकते हैं; और इस हालतमें यदि हम और प्रमाणोंको दिगम्बरियोंकी प्राचीनता सिद्ध करनेमें न दें तो भी हमारा काम अटका नहीं रहेगा। क्योंकि जो बात खण्डन लिखनेवालोंकी लेखनी ही से ऐसी निकल जावे जिससे खण्डन तो दूर रहे और दूसरोंका मण्डन हो जाय तो उसे छोड़कर ऐसा कौन प्रबल प्रमाण हो सकता है जिससे कुछ उपयोग निकले?

श्वेतांबरी भाई यह न समझें कि इस लेखसे हम और प्रमाण देनेके लिये निर्बल हैं। हम अपनी ओरसे तो जहां तक

हो सकेगा दिगम्बर धर्मके प्राचीन बनानेमें प्रयत्न करेंगे ही। परंतु पहले पाठकोंको यह तो समझा दें कि दिगम्बर धर्म श्वेतांबरसे प्राचीन है। वह भी श्वेतांबरके ग्रंथोंसे !

अस्तु, अब हम उन प्रमाणोंको भी उपस्थित करते हैं जिनसे जैनियोंका कोई संबंध नहीं है। और उन्हींसे यह भी सिद्ध करेंगे कि दिगम्बर धर्म पहलेका है।

श्वेतांबर ग्रन्थोंमें यह लिखा हुआ मिलता है कि दिगम्बर धर्म विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें रथवीरपुरसे शिवभूतिके द्वारा निकला है। अस्तु, श्वेताम्बर भाइयोंकी इस भूलपर चाहे जैसा अन्ध श्रद्धान हो ! परन्तु इतिहासके जाननेवाले वह बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे। प्राचीन इतिहासके देखने पर यह श्रद्धा नहीं होती कि इन कथनका पाया कितना गहरा और सुदृढ़ होगा।

इन अपने प्राचीनत्वके सिद्ध करनेके पहले यह बतला देना बहुत समुचित समझते हैं कि—दिगम्बर साधु लोग धन वस्त्र आदि कुछ भी परिग्रह अपने पास नहीं रखते हैं। अर्थात् थोड़े अक्षरोंमें यों कहिये कि वे दिशारूप वस्त्रके धारण करनेवाले हैं इसलिये उन्हें दिगम्बर (नग्न) साधु कहते हैं।

जैसा कि—श्रीभगवत्समन्तभद्रने साधुओंका लक्षण अपने रत्नकरण्ड उपासकाचारमें लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

यह दिगम्बरियोंके साधुओंका लक्षण है। और श्वेतांबरियोंके साधु लोग वस्त्र वगैरह रखते हैं। इसलिये वे श्वेतांबर कहे जाते हैं। अथवा हम यह व्याख्या न भी करें तो भी उनके नाममात्रसे यह ज्ञात हो जाता है कि वे श्वेत वस्त्रके धारण करनेवाले हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि निर्ग्रन्थ साधुओंके उपासक दिगंबर लोग हैं और श्वेत वस्त्र धारक साधुओंके उपासक श्वेतांबरी लोग।

अब विचार यह करना है कि—दिगंबर मत जब प्राचीन बताया जाता है तो इसमें कौन प्रमाण है जिससे सर्वसाधारण यह समझ जाय कि दिगंबर मत वास्तवमें पुरातन है?

हम यह बात ऊपर ही सिद्धकर चुके हैं कि दिगंबर लोग नग्न साधु तथा नग्न देवके उपासक हैं। तो अब देखिये कि—वराहमिहिर जो ज्योतिषशास्त्रके अद्वितीय विद्वान हुये हैं* उनके समयका निश्चय करते हैं तो उस विषयमें यह प्रसिद्ध श्लोक मिलता है।

---

* हमने तो यहां तक किम्बदन्ती सुनी है कि वराहमिहिर और श्रीभद्रबाहु ये दोनों सहोदर थे। यह उक्ति कहां तक ठीक है? सहसा विश्वास नहीं होता क्योंकि इस विषयमें हमारे पास कोई ऐसा सबल प्रमाण नहीं है—जिससे इस किम्बदन्तीको प्रमाणित कर सकें। यदि हमारे पाठक इस विषयमें कुछ जानते हों तो सूचित करें, हम उनके बहुत आभारी होंगे।

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां,
रत्नानि वैवररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

कहनेका आशय यह है कि—श्रीविक्रम महाराजकी सभामें धन्वन्तरि, अमरसिंह, कालिदास प्रभृति जो नवरत्न गिने जाते थे उनमें वराहमिहिर भी एक रत्न थे। इन्होंने अपने प्रतिष्ठाकाण्डमें एक जगह लिखा है कि—

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणां ।
मातॄणामिति मातृमण्डलविदः शंभोः समस्या द्विजः ॥
शाक्याः सर्वहिताय शांतमनसो नग्ना जिनानां विदु-
र्येयं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम् ॥

भाव यह है कि—वैष्णव लोग विष्णुकी प्रतिष्ठा करें, सूर्योपजीवी लोग सूर्यकी उपासना करें, विप्र लोग ब्राह्मणकी क्रिया करें, ब्राह्मणी इन्द्राणी प्रभृति सप्त मातृमण्डलकी उनके जाननेवाले अर्चा करें, बौद्ध लोग बुद्धकी प्रतिष्ठा करें, नग्न (दिगम्बर साधु) लोग जिन भगवानकी पर्युपासना करें। थोड़े शब्दोंमें यों कहिये कि जो जिनदेवके उपासक हैं वे अपनी२ विधिसे उसीकी क्रिया करें।

अब इतिहासके जाननेवाले लोग इस बातका अनुभव करें कि यह वराहमिहिरका कथन दिगंबर मतका अतिशय महाराज

विक्रमके समय तकका सिद्ध करता है या नहीं ? यदि करता है तो जो श्वेतांबरी लोग दिगंबरी लोगोंकी उत्पत्ति विक्रमकी मृत्युके १३८ वर्ष बाद बतलाते हैं यह कहना सत्य है क्या ? हमें खेद होता है कि श्वेताम्बराचार्योंने इस विषय पर क्यों न लक्ष दिया ? वे अपने ही हरिभद्रसूरिके—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

इन वचनोंको क्यों भूल गये ? अथवा यों कहिये कि -- "अर्थी दोषं न पश्यति। जिन्हें अपने ही मतलबसे काम होता है वे दूसरेकी ओर क्यों देखनेवाले हैं ? क्या वे लोग यह न जानते थे कि यह बात छिपी न रहेगी ? हम कितनी भी क्यों न छिपावे परन्तु कभी न कभी तो उजलेमें आवेगी ही ।

यह तो हम ऊपर ही लिख आये हैं कि—वराहमिहिर विक्रमके समयमें विद्यमान थे । तो अब यह निश्चय हो गया कि दिगम्बरियोंके बाबत जो श्वेताम्बरियोंकी कल्पना है वह—सर्वथा मिथ्या है । उसका एक अंश भी ऐसा नहीं है जो श्रद्धेय हो । बल्कि दिगम्बरियोंकी बाबत वि० सं० १३९ में उनकी उत्पत्ति लिखी है वह बिल्कुल ठीक है । इसके साक्षी वराहमिहिराचार्य हैं । (जिनका जैनियोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है) उनके समयमें श्वेतांबरियोंकी गंध तक नहीं थी इसीसे उन्होंने "नग्न" पद दिया है ।

इस विषयमें कितने ही श्वेतांबर लोगोंका कहना है कि जो लोग जैन मतमें अपरिचित तथा ग्रामीण होते हैं, वे जैन मंदिरके देखते ही झटसे कह उठते हैं कि—यह नग्नदेवका मंदिर है। उसी प्रसिद्धिके अनुसार यदि वराहमिहिरने भी ऐसा लिख दिया हो तो क्या आश्चर्य है ? परन्तु कहनेवालोंकी यह भूल है। वराहमिहिर विक्रमकी सभाके रत्न गिने जाते थे। वे सब शास्त्रोंके जाननेवाले थे। इसलिए ऐसे अपरिचित तथा ग्रामीण न थे जो वे शिर पेड़की कल्पना उठा लेते। और यह तो कहो कि उस समय तुम्हारा मत जब विद्यमान था तो भी उन्होंने तुम्हारे विषयमें न लिखकर दिगंबरियोंके विषयमें क्यों लिखा ? तुम्हारे कथनानुसार तो दिगंबर धर्मका उस समय सद्भाव भी न होना चाहिये ? फिर यह गोलमाल क्यों हुआ ? इसका उत्तर क्या दे सकते हो ? तुम वराहमिहिरके इन वचनोंको होते हुये यह कभी सिद्ध नहीं कर सकते कि दिगंबर मत विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें निकला है। किंतु इतिहास-वेत्ताओंकी दृष्टिमें उल्टे तुम ही निरुत्तर कहे जा सकोगे।

कदाचित् कहो कि—केवल नग्न शब्दके कहने मात्रसे तो दिगंबर लोगोंका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि हम भी तो जिन कल्पके उपासक हैं। और जिन कल्पवालोंकी प्रवृत्ति नग्न रूप होती है।

केवल कथन मात्रसे कहना कि—हम जिन कल्पके उपासक हैं और जिन कल्प नग्न होता है इससे कुछ उपयोग नहीं निकल सकता। साथमें स्वरूप भी वैसा होना चाहिये। और यदि यही था तो शिवभूति क्यों बुरा समझा गया? अरे! जब तुम्हारा मत ही श्वेतांबर नामसे प्रसिद्ध है तो उसे नग्न कहना केवल उपहास कराना है। हम तो फिर भी कहेंगे कि—साधुलोग वास्तविक नग्न यदि संसारमें किसी मतके होते हैं तो वे केवल दिगंबरियोंके। वस्त्रादिसे सर्वांङ्ग वेष्टित साधुओंको कोई नग्न नहीं कहेगा। यदि तुम अपना पक्ष सिद्ध करनेके लिये कहो भी तो यह बड़ा भारी आश्चर्य है!

दूसरे तुम्हारे ग्रंथोंमें जब यह बात भी पाई जाती है कि "तीर्थङ्कर देव भी सर्वथा अचेल नहीं होते किंतु देव-दूष्य वस्त्र स्वीकार करते हैं"* तो तुम्हारे साधु नग्न हों यह कैसे माना जाय? यह बात साधारणसे साधारण मनुष्यसे भी यदि पूछी जाय कि दिगंबर और श्वेतांबरियोंके साधुओंमें नग्न साधु कौन है? तो वह भी दोनोंका स्वरूप देखकर झटसे कह देगा कि दिगंबरियोंके साधु नग्न होते हैं।

इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वराहमिहिरका वचन विक्रम महाराजके समयमें दिगंबर धर्मका अस्तित्व सिद्ध

* इस विषयको श्री आत्मारामजी साधुने अपने निर्माण किये तत्त्वनिर्णयप्रासादके ५४४ वें पत्रेमें स्वीकार किया है।

करता है वह ससन्देह है। और श्वेतांबरी लोग जो विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें चला बताते हैं वह बिलकुल काल्पनिक है।

महाभारतके तीसरे परिच्छेदके आदिमें दिगम्बरियोंकी बाबत कुछ जिकर आया है। महाभारत वराहमिहिरसे बहुत प्राचीन है। इसके बनानेवाले श्री वेदव्यास महर्षि हैं। जिनके नामको बच्चा२ जानता है। इनके विषयमें यदि विशेष शोध करना चाहो तो किसी सनातन धर्मके विद्वानसे जाकर पूछो वह सब बातें बता सकेगा।

× साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रतिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले
गृहीत्वा सोपस्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं
मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ॥

आशय यह है कि कोई उत्तङ्क नामा विद्यार्थी अपने गुरुकी भार्याके लिये कुण्डल लानेके लिये गया। मार्गमें पौष्यके साथ उसका वार्तालाप हुआ तो किसी हेतुसे उत्तङ्कने उसे चक्षु विहीन होनेका शाप दे दिया। पौष्य भी चुप न रह सका सो उसने बदलेका शाप दे डाला कि–तूं भी संतानका सुख न देखेगा। अवसानमें वह कहता हुआ कि अच्छा शापका अभाव हो कुण्डल लेकर चल दिया। सो रास्तेमें उसने कुछ दीखते हुये कुछ न दीखते हुये नग्न (दिगंबर) मुनिको बारबार देखे।

× मुनि आत्मारामजीने भी इस प्रमाणको तत्वनिर्णयप्रासादमें जैन मतकी प्राचीनता दिखलानेके लिये उद्धृत किया है।

कहो तो नग्न साधु दिगंबरियोंके ही थे न ? ये वेदव्यास तो आजकलके साधु नहीं हैं ? किंतु इन्हें हुये तो आज कई हजार वर्ष बीत चुके हैं। इस विषयमें तुम यह भी नहीं कह सकते कि क्या आश्चर्य है जो ये जिनकल्पी ह साधु हों ? क्योंकि उस समय जिनकल्प विद्यमान था। ब्राह्मणोंके ग्रंथोंमें जहां कहीं नग्न शब्दसे संबंध रखनेवाला विषय आता है वह केवल दिगंबर धर्मसे संबंध रखता है। खैर ! वेदव्यास तो प्राचीन हुये हैं उनके समयमें तो तुम्हारा नाम निशान भी न था किंतु जो आचार्य विक्रमकी सातवीं तथा नवमी शताब्दिमें हुये हैं वे भी नग्न शब्दका प्रयोग दिगंबरियोंके लिए ही करते हैं—

कुसुमांजलिके प्रणेता उदयनाचार्य १६ वें पृष्ठमें लिखते हैं कि—

निरावरणा इति दिगंबराः

इसी तरह न्यायमञ्जरीके जयन्त भट्ट १६७वें पृष्ठमें लिखते हैं—

> क्रियातु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्मजटा परिग्रहो वा दण्डकमण्डलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं वा दिगंबरता वाऽवलंब्यतां कोऽत्र विरोधः

इनके अलावा और भी जितनी जगह प्रमाण आते हैं वे 'विवसन' 'दिगंबर' 'नग्न' इत्यादि शब्दोंमें व्यवहृत किये जाते हैं। वे सब दिगंबर मतसे संबंध रखते हैं तो फिर क्यों कर

यह माना जाय कि दिगंबर धर्म आधुनिक है? उसके आधुनिक कहनेवालोंको ऐसे प्रमाण भी देने चाहिये जिन्हें सर्व साधारण मान सके। केवल भलता ही किसीपर आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। आजका जमाना नवीन ढंगके प्रवाहमें वह रहा है।

अब लोग यह नहीं चाहते हैं कि बिना किसी प्रबल युक्तिके कोई बात मान ली जावे। किंतु जहांतक हो सके उसे युक्ति और प्रवृत्तियोंके द्वारा अच्छी तरह परामर्श करके मानना चाहिये। जब प्रत्येक विषयके लिये यह बात है तो यह तो एक बड़ा भारी विषम विषय है। इसमें तो बहुत ही सुदृढ़ प्रमाण होने चाहिये। हम यह नहीं कहते कि आप लोग हमारे कहे हुयेको अपने हृदयमें स्थान दें। परन्तु साथ ही इतना अवश्य अनुरोध करेंगे कि—

यदि हमारा लिखा हुआ अयुक्त हो तो उसे सर्व-साधारणमें अयुक्त सिद्ध करो हमें इस बातसे बड़ी खुशी होगी कि—जिस तरह हमने अपने प्राचीनत्व सिद्ध करनेमें एक दूसरे ही मतके प्रमाणोंको उपस्थित किये हैं उसी तरह तुम भी अपने कहे हुये प्रमाणको सप्रमाण प्रमाणभूत ठहरा दोगे।

हम प्रतिज्ञापूर्वक यह बात लिखते हैं और न ऐसे लिखनेमें हमें किसी तरहकी विभीषिका है। यदि हमें कोई यह बात सिद्ध करके बता देंगे कि—दिगंबर धर्म आधुनिक

है, इसका समाविर्भाव विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें हुआ है तो हमें दिगंबर धर्मसे ही कोई प्रयोजन नहीं है किंतु प्रयोजन है अपने हितसे सो हम फौरन अपने श्रद्धानको दूसरे रूपमें परिणत कर सकते हैं। परन्तु साथ ही हमारे ऊपर कहे हुये वचनोंका भी पूर्ण ख्याल रहे। केवल अपने ग्रंथमात्रके लिखनेसे हम कभी उसे सप्रमाण नहीं समझेंगे। यदि लिखने मात्रपर ही विश्वास कर लिया जाय तो संसारके और २ मतोंने ही क्या बिगाड़ा है?

इसपर प्रश्न यह हो सकता है कि जैसे तुम्हें अपने धर्मपर लिखे हुयेका विश्वास है वह भी तो लिखा हुआ ही है न? बेशक वह लिखा हुआ है और उसपर हमारा पूर्ण विश्वास भी है क्योंकि वह हमारी परीक्षामें शुद्ध रत्न जचा है। और यही कारण है कि दूसरेपर अश्रद्धा है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हमें कोई यह बात समझा दें कि दिगंबर धर्म आधुनिक और जीवोंका अहित करनेवाला है फिर भी उस पर श्रद्धा न रहे। अन्यथा हम तो यही अनुरोध करते हैं और करते रहेंगे कि सबसे पहले यह विचारना जरूरी है कि— जीवका वास्तविक हित किस धर्मके द्वारा हो सकता है? और कौन धर्म ऐसा है जो संसारमें निराबाध है? इस विषयकी गवेषणामें लोगोंको निष्पक्षपाती होना चाहिये और नीचेकी नीति चरितार्थ करना चाहिये—

वारि हंस इव क्षीरं, सारं गृह्णाति सज्जनः।
यथाश्रुतं यथाकल्पं, शोच्यानां हि कृतिमता ॥

वैदिक संप्रदायके महाभारतादि प्राचीन ग्रंथोंके अनुसार यह अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं कि—दिगम्बर धर्म श्वेतांबर धर्मसे प्राचीन है और दिगम्बरोंहीमेंसे इसकी संसारमें नवीन रूपसे अवतारणा हुई है। वह केवल अपनी सामर्थ्यके हीन होनेसे। क्योंकि यदि उनकी शक्तिका ह्रास न होता तो न धर्मशास्त्र विहित जिनकल्पका अनादर करते और न उन्हें अपने नवीन मतके चलानेकी जरूरत पडती।

कदाचित कहो कि यदि, जिनकल्पके तुम बड़े श्रद्धानी हो और उसे ही प्रधान समझते हो तो आज तुम लोगोंमें यह हालत है कि एक साधु तक ऐसा नहीं देखा जाता जो जिन-कल्पका नमूना हो? और हम लोगोंमें साधु तो देखनेमें आते हैं। क्या जिन भगवानका यह कहना है कि पञ्चमकालके अन्त पर्यन्त साधुओंका सद्भाव रहेगा व्यर्थ ही चला जायगा?

इसके उत्तरमें विशेष नहीं लिखना चाहते। किन्तु इतना ही कहना उचित समझते हैं कि जो बात जिन भगवान्की ध्वनिसे निकली है वह वास्तवमें सत्य है और वैसा ही वर्त-मानमें दिखायी भी दे रहा है। जिन भगवानने जो यह कहा है कि पंचमकालके अन्त पर्यन्त साधुओंका सद्भाव रहेगा परन्तु इसके साथ२ यह भी तो कह दिया है कि बहुत ही विरलतासे।

तो यदि केवल इस देशमें वर्तमान समयमें उनके न भी होनेसे यह विश्वास तो नहीं किया जा सकता कि मुनियोंका सर्वथा अभाव हो? दूसरे—तुम लोगोंमें शासन विरुद्ध वेषके धारक यदि बहुत भी साधु मिल जावें तो उससे हमें लाभ क्या? अरे! आज इस देशमें हंस सर्वथा नहीं देखे जाते तो क्या विश्वास भी यही कर लिया जाय कि हंस होता ही नहीं है? विचारशील इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे—

ध्यानी गरुड़बोधेन, न हि हन्ति विषं बकः।

बगलेका गरुड़ रूपमें कोई कितना भी ध्यान क्यों न करे परन्तु वह कभी विषको दूर नहीं कर सकता। तो इसी तरह केवल ऐसे वैसे साधुओंका सद्भाव होनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता कि साधुओंके अभावकी पूर्ति हो जायगी। वैसे तो आज केवल भारतवर्षमें ही बावन लाख साधु हैं। परन्तु उनसे उपयोग क्या सधेगा?

हां, एक बात और श्वेताम्बर लोग कहते हैं जिससे वे अपने प्राचीन होनेका दावा रखते हैं। वह यह है कि—हम लोगोंमें अभीतक खास गणधरोंके बनाये हुवे अङ्गशास्त्र हैं और तुम लोगोंमें नहीं हैं। इसीसे भी हम प्राचीन सिद्ध होते हैं। परन्तु यह प्रमाण भी संगत नहीं है। इसमें हमें बाधा यह देना है कि—यदि तुम खास गणधरोंके शास्त्र अभीतक अपनेमें

विद्यमान बताते हो तो कोई हर्ज नहीं। हम तो यही चाहते हैं कि—किसी तरह वस्तुका निश्चय हो जाय। परन्तु साथ ही इतनी बातें और सिद्ध करनी होंगी ?

यदि वे शास्त्र खास गणधरोंके बनाये हुये हैं तो जिस-जिस अंगकी तुम्हारे ही शास्त्रोंने जितनी-जितनी संख्या कही है उतनीकी विधि ठीक-ठीक मिला दो। यदि कहोगे कि—कलियुगमें बहुतसा भाग विच्छेद हो गया है। अस्तु, यही सही, परन्तु उन शास्त्रोंके प्रकरण देखनेसे तो यह नहीं जाना जाता कि यहांका भाग खण्डित हो गया है, वह तो आदिसे लेकर अन्त पर्यन्त बिल्कुल सम्बद्ध मालूम पड़ता है फिर यह कैसे माना जाय कि इसका भाग नष्ट हो चुका है ? और न इतनी पदोंकी संख्या ही मिलती है जितनी शास्त्रोंमे लिखी हैं।

फिर भी कदाचित कहो कि—पद तो हम व्याकरणके नियमानुसार सुबन्त और तिङन्तको मानेंगे। खैर ! यही सही, परंतु ऐसा मानने पर तो वह संख्या शास्त्रके कथनको भी बाधित कर देगी। फिर उसका निर्वाह कैसे होगा ?

फिर भी यदि कहो कि—ये जो अङ्ग शास्त्र हैं वे गणधरोंके कथनानुसार महर्षियोंके द्वारा बनाये गये हैं। यदि यही ठीक है तो महर्षियोंने उनके रचयिताओंमें अपना नाम न रखकर गण-धरोंका नाम क्यों रक्खा ? क्या उन्हें किसी तरहकी विभीषिका

थी ? जो उन्होंने बड़ोंके नाममें अपने बनाये हुये ग्रन्थ प्रकाशित किये ? जाति पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा ? उन्होंने अपने दूसरे महाव्रतका उल्लंघन करना क्यों उत्तम समझा ? दूसरे—गणधरोंकी जैसी गम्भीर वाणी होती है वैसी इनकी क्यों नहीं ?

जैसे ऋषियोंके ग्रंथोंकी भाषा है वैसी इनकी भी है। इत्यादि कई हेतुओंसे ये अंगादि शास्त्र खास गणधरोंके द्वारा विहित प्रतीत नहीं होते। यदि सिद्ध कर सकते हो तो करो ! उपादेय होगा तो सभी स्वीकार करेंगे।

दिगम्बरोंका तो इस विषयमें सिद्धांत है कि—अँग पूर्वादि शास्त्रोंका लिखा जाना ही जब नितांत असंभव है तो उनका होना तो कहांतक संभव है इसका जरा अनुभव करना कठिन है। परन्तु अभी जितने शास्त्र हैं वे सब परम्पराके अनुसार अंगशास्त्रके अंश ले लेकर बने हैं। उनके बनानेवाले गणधर न होकर आचार्य लोग हैं। और यही कारण है कि—उन्होंने सब ग्रन्थ अपने ही नाममें प्रसिद्ध किये हैं।

यह युक्ति भी श्वेतांबर मतके प्राचीन सिद्ध करनेमें असमर्थ है तो अभी ऐसा कोई प्रबल प्रमाण नहीं है जिससे श्वेताम्बर मत दिगम्बर मतसे पहलेका सिद्ध हो जाय। और दिगम्बर मत पहलेका है यह बात वैदिक संप्रदायके ग्रंथोंके अनुसार हम पहले ही सिद्ध कर आये हैं। इसके अलावा दिगम्बरोंके प्राचीन सिद्ध होनेमें यह भी हेतु देखा जाता है कि-

उनके कितने आचार्य ऐसे हुये हैं जो उनका अस्तित्व विक्रम महाराजकी पहली ही शताब्दिमें सिद्ध होता है। देखिये तो—

कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम सं० ४९ में हुये हैं। उन्होंने पञ्चास्तिकायादि कितने ही ग्रंथ निर्माण किये हैं। समन्तभद्र-स्वामी वि० सं० १२५ में हुये हैं इनके बनाये हुये गंधहस्ति-महाभाष्य, रत्नकरण्ड, आप्त-परीक्षादि कितने ग्रंथ बनाये हुये हैं। बनारसका शिवकोटि राजा भी उन्हींके उपदेशसे जैनी हुआ था। उसने भी भगवती आराधना प्रभृति कई ग्रंथ निर्माण किये हैं।

इनके सिवाय और भी कितने महर्षि दिगंबर संप्रदायमें विक्रमकी पहली शताब्दिमें हुये हैं। इसलिये श्वेतांबरोंका—दिगंबर मतकी उत्पत्ति वि० सं० १३८ से कहना सर्वथा बाधित सिद्ध होता है।

जब किसी तरह दिगंबर मत श्वेतांबर मतके पीछे निकला सिद्ध नहीं होता तो उनकी कथा—कल्पना कहांतक ठीक है? इसकी परीक्षाका भार हम अपने पाठकोंके ऊपर छोड़ते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे निष्पक्ष दृष्टिसे दोनों मतके ऊपर विचार करें।

यद्यपि हमारी यह इच्छा थी कि—ऊपर लिखे हुये आचार्योंके बाबत यह सविस्तार सिद्ध करें कि ये सब विक्रमकी

पहली शताब्दिमें हुये हैं। परन्तु प्रस्तावना इच्छासे अत्यधिक बढ़ गई है। इसलिए पाठकोंको अरुचि न हो सो यहींपर विराम लेकर आगेके लिये आशा दिलाते हैं कि हम श्वेतांबर तथा दिगंबरोंके संबंधमें एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखनेवाले हैं उसीमें यह बात भी अच्छी तरह सिद्ध करेंगे। पाठक थोड़े समयके लिए हमें अपनी क्षमाका भाजन बनावें।

हमने यह प्रस्तावना ठीकर निर्णयके अभिप्रायसे लिखी है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि हम किसीके दिलको दुःखावें। परन्तु सत्य झूठके निर्णयकी परीक्षा करनेका अवश्य अनुरोध करेंगे। और इसी आशयसे हमने लेखनी उठाई है। यदि कोई महाशय इसका सज्जन उत्तर देंगे तो उसपर अवश्य विचार किया जायगा। बस इतना कहकर हम अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हैं और साथ ही—

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः॥

इस नीतिके अनुसार क्षमाकी प्रार्थना करते हैं। क्योंकि—

न सर्वः सर्वं जानाति।

इसलिये भूल होना छद्मस्थोंके लिये साधारण बात है। बुद्धिमानोंको उस पर खयाल न करके प्रयोजन पर दृष्टि देनी चाहिये।

भद्रबाहुचरित्रकी हमें २ प्रतियें मिली हैं परंतु वे दोनों बहुधा अशुद्ध हैं। इसलिए संस्कृत पाठके संशोधनमें हम कहां तक सफल मनोरथ हुये हैं इसे पाठक ही विचारें। तब भी बहुत ही अशुद्धियोंके रह जानेकी सम्भावना है। उन्हें पुनरावृत्तिमें सुधारनेका उपाय करेंगे। हिंदी अनुवादका यह हमारा दूसरा ग्रन्थ है। अनुवाद जहांतक हो सका सरल भाषामें करनेका उपाय किया है, पाठकोंको यह कहांतक रुचिकर होगा इसका हमें सन्देह है। क्योंकि हमारी भाषा वैसी नहीं है जो पाठकोंके दिलको लुभाले। अस्तु, तो भी मूल ग्रंथका तात्पर्य तो समझमें आ ही जावेगा। अभी इतने हीमें संतोष करते हैं।

काशी
ता० १८ २ ११

जातिका दास
उदयलाल जैन काशलीवाल

ॐ

नमः श्रीभद्रबाहुमुनये ।

श्री भद्रबाहु-चरित्र

(सभाषानुवाद)

श्री शशिविशद जिनेशपद, कुगति भ्रमण दुख ताप ।
हरकर निजचैतन्यगुण, करहु दान गतपाप ! ॥ १ ॥
त्रिभुवन जन तुव भक्ति-वश, त्रिभुवनके अवतंस ।
हुये, प्रभो ! अब क्यों न मुझ-पर करुणा है अंश ? ॥ २ ॥
दिनमणि भी तुव कान्तिसे, निबल कान्ति है नाथ ! ।
चूरहिं जगतम तो न क्यों, हरहु हृदय तम ? नाथ ! ॥ ३ ॥
जनश्रुति शशि शीतल कहैं, मुझे न यह स्वीकार ।
जनन-ताप मिटता नहीं, फिर यह क्यों निरधार ? ॥ ४ ॥
इस अपार सन्तापके, हुये विनाशक आप ।
तिहिं मृगाङ्क शीतल प्रभो ! कहलाये जग आप ॥ ५ ॥
गुण मुक्तामणि रत्नके, पारावार अपार ।
गुण मुक्तामणि दान कर, नाथ ! करहु भवपार ॥ ६ ॥
इह विध मङ्गल-प्रभव शुभ, जिन-प्रभाव वश विघ्न ।
हैं निराम, इह ग्रन्थ शुभ, हो पूरण निर्विघ्न ॥ ७ ॥
नाथ ! सुविनय अनाथका, सुनकर करुणा पूर ! ।
अवलम्बन कर कमलका, देकर कलिल विचूर ॥ ८ ॥
रत्नकीर्ति मुनिराजने, रचो सुजन हित हेतु ।
भद्रबाहु मुनि तिलक वृत, सो भव नीरधि सेतु ॥ ९ ॥
तिहि भाषा में मन्द-धी, मूल ग्रन्थ अनुसार ।
लिखहिं कहीं यदि भूल हो, शोधहु सुजन विचार ॥१०॥

ग्रन्थारम्भ

जो अपने केवलज्ञान-रूप सूर्यके द्वारा हृदयस्थित अन्धकारका भेदन करके महावीर (अनुपम सुभट) पनेको प्राप्त हुये हैं वे सन्मति (महावीर) जिनेन्द्र हम लोगोंके लिये समीचीन बुद्धि प्रदान करें ॥ १ ॥

धर्मसे शोभायमान, वृषभके चिह्नसे चिह्नित, इन्द्रसे अर्चनीय, धर्मतीर्थके प्रवर्तक तथा शत्रुओंके भेदनेवाले ऐसे श्रीवृषभनाथ भगवानके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

मनोभिलषित उत्कृष्टपदकी प्राप्तिके लिये उत्कृष्टपदको प्राप्त हुये पञ्चपरमेष्ठिके उत्कृष्ट-लक्ष्मी-विराजित चरणोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

लोक तथा अलोकके अवलोकनके लिये प्रदीपके समान जिनवाणी (सरस्वती) हमारे पाप रूप रजका नाश कर निरन्तर निर्मल बुद्धि प्रदान करे ॥ ४ ॥

संसार-समुद्रमें पवित्र आचरण रूप यानपात्रके द्वारा गौरवको प्राप्त हुये साधुओंके पदपङ्कज मेरे मनोभिलषित अर्थकी सम्प्राप्तिके करनेवाले होवें ॥ ५ ॥

ग्रन्थकार साधुराज रत्नकीर्ति महाराज अपनी लघुता बताते हुये कहते हैं कि—यद्यपि मैं ग्रंथ निर्माण करनेकी शक्तिसे

रहित हूं तथापि गुरुत्रयकी उत्तेजनासे जैसा उनके द्वारा भद्रबाहु मुनिराजका चरित्र सुना है उसे उसी प्रकार कहूंगा ॥ ६ ॥

जिसके श्रवणसे—मन्द बुद्धियोंके मिथ्या-मोहरूप गाढान्धकारका नाश होकर पवित्र जैनधर्ममें निर्मल बुद्धि होगी ॥ ७ ॥

इस भरतक्षेत्र सम्बन्धी मगधदेशमें अलकापुरीके समान राजगृह नगर है ॥ ८ ॥

उसके पालन करनेवाले— जिन्हें समस्त राजमण्डल नमस्कार करते हैं तथा कल्याणके निलय भव्यात्मा महाराज श्रेणिक हैं। और उनकी कान्ताका नाम चेलनी है ॥ ९ ॥

एक समय महाराज श्रेणिक—वनपालके मुखसे विपुलाचल पर्वत पर श्री महावीर जिनेन्द्रका समवशरण आया सुनकर उनके अभिवन्दनकी अभिलाषासे गीत नृत्य वादित्रादि प्रचुर महोत्सव पूर्वक। जिनके द्वारा समस्त दिशायें शब्दमय होती थी। चले ॥ १०-११ ॥

और देवता लोगोंसे वन्दनीय तथा केवलज्ञान रूप उज्वल कांतिके धारक श्री वीरजिनेन्द्रका समवलोकनकर तथा स्तुति नमस्कार पूजन कर मनुष्योंकी सभामें बैठे ॥ १२ ॥

वहाँ जिन भगवानके द्वारा कहे हुये यति और श्रावकका स्वरूप विनयपूर्वक सुना, तथा करकमल—मुकुलित कर नमस्कार

पूर्वक पूछा—देव ! इस भारतवर्षमें दुषम पंचम कालमें आगे कितने केवलज्ञानी तथा कितने श्रुतकेवली होंगे ? और आगे क्या होगा ? ॥ १३-१४ ॥

श्रेणिक महाराजके प्रश्नके उत्तरमें भगवान वीर जिनेन्द्र गम्भीर मेघ समान दिव्यध्वनिके निनादसे भव्यरूप मयूरोंको आनन्दित करते हुये बोले- नराधिनाथ ! मेरे मुक्ति जानेके बाद--गौतम, सुधर्म, जम्बू ये तीन केवलज्ञानी होंगे। और समस्त शास्त्रके जाननेवाले श्रुतकेवली-विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु ये पांच महर्षि होंगे। और पंचम कलिकालमें ज्ञान धर्म तथा सुख ये दिनों दिन घटते जावेंगे ॥ १५-१८ ॥

हे श्रेणिक ! अब आगे तुम भद्रबाहु मुनिका चरित्र सुनो। क्योंकि जिसके श्रवणसे मुर्ख लोगोंको अन्य मतोंकी उत्पत्ति मालूम हो जायगी ॥ १९ ॥

उस समय श्रेणिक महाराजने श्री वीरजिनेन्द्रके मुखसे भद्रबाहु मुनिका चरित्र जिस प्रकार सुना था उसे उसी प्रकार इस समय संक्षेपसे गुरुभक्तिके प्रसादसे मैं कहता हूं ॥ २० ॥

इस लोकमें विख्यात जंबूद्वीप है। वह आदि होने पर भी अनादि है। परन्तु यह असंभव है कि—जो आदि है वह अनादि नहीं हो सकता। इस विरोधका परिहार यों करना

चाहिये कि—वह जंबूद्वीप और २ धातकी खण्ड आदि सब द्वीपोंमें आदि (पहला) द्वीप है। इसलिये जंबूद्वीपके आदि होकर अनादि होनेमें दोष नहीं आता। यह द्वीप षट्कुलाचल पर्वतोंसे सेवनीय है। अर्थात्—इसके भीतर छह कुलाचल शैल हैं तो समझिये कि—लक्ष्मी तथा कुलक्रमसे वशवर्त्ति राजाओंके द्वारा सेवनीय क्या वसुन्धराधिपति है? उस जंबूद्वीपके ललाटके समान उत्तम भरतक्षेत्र सुशोभित है। और उसके तिलक समान पुन्ड्रवर्द्धन देश है॥ २१–२२॥

जिस देशमें धन धान्य तथा मनुष्योंके, धेनुओंके समूहसे विभूषित तथा महिष (भैंस) निवहसे परिपूर्ण छोटे२ ग्राम राजाओंके समान मालूम देते हैं। क्योंकि राजालोग भी धनधान्य जनसमूह पृथ्वीमण्डल तथा रानियोंसे शोभित होते हैं। २३॥

जिस देशमें आश्रित पुरुषोंको उत्तम फल देनेवाले, शीतल छायाके करनेवाले, विशाल शोभासे युक्त, पृथ्वीके आश्रित तथा देखनेमें मनोहर वृक्ष श्रावकोंके समान मालूम होते हैं, क्योंकि श्रावक लोग भी लक्ष्मीसे युक्त, उत्तम क्षमाके स्थान तथा सम्यग्दर्शनके धारक होते है॥ २४॥

जिस देशमें नदी मात्रसे निष्पन्न तथा मेघ मात्रसे निष्पन्न क्षेत्र (खेत) से सुशोभित तथा मनोभिलषित धान्यकी देनेवाली वसुन्धरा चिन्तामणिके समान मालूम पड़ती है। क्योंकि चिन्तामणि भी तो वांछित वस्तुओंको देनेवाला होता है॥ २५॥

जिस देशमें पुरुषोंको भ्रमर विलसित कमल-लोचनोंमे आनन्दको बढ़ानेवाली, पक्षियोंकी श्रेणियोंमे शोभित, निर्मल जलसे परिपूर्ण तथा जिनका सुन्दर आकार देखने योग्य है ऐसी सरसियें शोभती हैं तो समझिये कि देशकी उत्कृष्ट शोभा देखनेके लिये कौतूहलसे प्रगट हुई पृथ्वी रूप कान्ताकी आनन श्री है क्या ? क्योंकि मुखश्री भी लोचनोंमे आनन्द देनेवाली दांतोंकी पंक्तिमे विराजित, निर्मल तथा देखने योग्य होती है ॥ २६-२७ ॥

तथा जिस देशमें प्रसूति गृहमें अरिष्ट शब्दका व्यवहार होता था, प्रतारण पना जम्बुक (स्याल) में था, बन्धन हाथियोंमें था, पल्लवोंमें छेदन होता था, भङ्गपना जलतरंगमें था, चपलता बन्दरोंमें थी, चक्रवाक रात्रिमें सशोक होता था, मद विशिष्ट हाथी था तथा कुटिलता स्त्रियोंकी भृवल्लरियोंमें थी, इन बातोंको छोड़कर प्रजामें न कोई अरिष्ट बुरा करनेवाला) था, न ठगनेवाला था, न कीसीका बन्धन होता था, न किसीका छेदन था, न किसीका नाश होता था, न किसीमें चपलता थी, न किसीको किसी तरहका शोक था, न कोई अभिमानी था, तथा न किसीमें कुटिलता थी।

भावार्थ—पुण्ड्रवर्द्धन देशकी प्रजा सर्व तरह आनन्दित थी, उसमें किसी प्रकारका उपद्रव न था ॥ २८-२९ ॥

जिस पुण्ड्रवर्द्धन देशमें स्वर्गके खण्ड समान अत्यन्त

मनोहर कोट्टपुर नाम नगर अट्टाल सहित बड़े२ ऊंचे गोपुरद्वार खातिका तथा प्राकारसे सुशोभित है ।। ३० ।।

जिसमें—अतिशय उन्नत शिखरवाली हर्म्यश्रेणियें ऐसी मालूम पड़ती हैं समझिये कि—अपने ध्वजा रूप हाथोंसे चन्द्रमाका कलंक मिटानेके लिये खड़ी है ।। ३१ ।।

जिस नगरीमें—निर्मल, मुक्तके समूह समान भव्य पुरुषोंके द्वारा सेवनीय जिन चैत्यालयोंके शिखर सम्बन्धी अनेक प्रकार महा अमूल्य—मणि—माणिक्यसे जड़े हुये सुवर्णोंके कलशोंकी चारों ओर फैलती हुई किरणोंसे गगन मण्डलमें विचित्र चन्द्रोपक (चन्दोवा) की शोभा होती थी ।। ३२-३३ ।।

जिस नगरीमें दानी लोग यद्यपि थे तो दयाशाली परन्तु बिचारे कुबेरको तो निर्दय होकर निरन्तर महापीड़ा करते थे । भावार्थ—वहांके दानी लोग धनदसे भी अधिक उदार थे ।। ३४ ।।

जिन लोगोंका धन तो जिन पूजादिमें व्यय होता था, चित्त जिनभगवानके धर्ममें लीन रहता था, गमन अच्छे२ तीर्थोंकी यात्रा करनेके लिये होता था, कान जैन शास्त्रोंके श्रवणमें लगते थे, वे लोग स्तुति गुणवानोंकी करते थे तथा नमस्कार जिनदेवके चरणोंमें करते थे । अधिक क्या कहें;

कोट्टपुरनगर निवासी सब लोग धर्म-प्रवृत्तिमें सदैव तत्पर रहते थे ॥ ३५-३६ ॥

उस पुण्ड्रवर्द्धनका-जिसने अपने तेजसे समस्त राजा लोगोंको वश कर लिये हैं, सन्तानके समान प्रजाको देखनेवाला, राजा लोगोंके योग्य तीन शक्तिसे मण्डित, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, प्रभृति छह अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतनेवाला तथा उत्तम मार्गमें सदैव प्रयत्नशील पद्मधर नाम राजा था ॥ ३७-३८ ॥

उसके-दूसरी लक्ष्मीकी समान पद्मश्री नाम महिषी थी। तथा सोमशर्मा पुरोहित था ॥ ३९ ॥

वह पुरोहित विचारशील, विशुद्ध हृदय तथा वेदविद्याका ज्ञाता था और द्विजराज (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ) होकर भी द्विजराज (चन्द्र अथवा गरुड़) न था। क्योंकि द्विज नाम नक्षत्रोंका है और नक्षत्रोंका राजा चन्द्र होता है, अथवा द्विजनाम पक्षियोंका है और उनका राजा गरुड होता है। परन्तु यह दोनों न होकर ब्राह्मणोंमें उत्तम था। क्योंकि द्विज नाम ब्राह्मणका भी है ॥ ४० ॥

सोमशर्माके--चन्द्रवदनी, विशाल लोचनवाली, स्वाभाविक अपने सौन्दर्यसे देवाङ्गनाओंको जीतनेवाली तथा सूर्यकी जैसी कान्ति होती है चन्द्रमाकी जैसी शिखा होती है उसी समान

सुन्दर लक्षणोंकी धारक प्रशंसनीय सोमश्री नामकी कान्ता थी ॥ ४१-४२ ॥

सोमशर्म अपनी सुन्दरीके साथ अतिशय रमण करता हुआ सुखपूर्वक कालको बिता था, जिस प्रकार कामदेव अपनी रतिकांताके साथ प्रणयपूर्वक रमण करता हुआ कालको बिताता है ॥ ४३ ॥

पुण्य कर्मके उदयसे कृशोदरी सोमश्रीने शुभ नक्षत्र शुभ ग्रह तथा शुभ लग्नमें अनेक प्रकार शुभ लक्षणोंसे युक्त तथा कामदेवके समान सुन्दर स्वरूपशाली पुत्ररत्न उत्पन्न किया, जिस प्रकार उत्तम बुद्धि ज्ञान उत्पन्न करती है। उस समय सोमशर्मने पुत्रकी खुशीमें याचक लोगोंके लिये उनकी इच्छानुसार दान दिया ॥ ४४-४५ ॥

और स्त्रियें-मधुर२ गाने गाने लगीं, नृत्य करने लगीं, दुन्दुभि बजने लगे तथा गृहों पर ध्वजायें लटकाई गई। इत्यादि नाना प्रकारसे पुत्रका जन्म महोत्सव मनाया गया ॥ ४६ ॥

अधिक क्या कहा जाय उस पुण्यशाली सुसुतके अवतार लेनेसे सभीको आनंद हुआ। जैसे सूर्यके उदयाद्रि पर आनेसे कमलोंको तथा चन्द्रोदयसे चकोरोंको आनंद होता है ॥४७॥

यह बालक कल्याणका करनेवाला होगा, सौम्य मूर्तिका धारक है, सरल चित्त है इसलिये बंधुओंके द्वारा भद्रबाहु नामसे सुशोभित किया गया ॥ ४८ ॥

सो सुन्दर स्वरूपशाली भद्रबाहु शिशु स्त्रियोंके द्वारा खिलाया हुआ एकके हाथसे एकके हाथमें खेला, पृथ्वीमें कभी नहीं उतरा ॥ ४९ ॥

सारे संसारको आल्हादका देनेवाला शुक्ल द्वितीयाका चद्र जैसे दिनोंदिन कलाओंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है उसी तरह अखिल जगतको आनंद देनेवाला यह बालक भी अपने गुणोंके साथ ही साथ प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥ ५० ॥

अपने सौभाग्य, धैर्य, गंभीरता तथा रूप लावण्यसे पृथ्वीमण्डलको मुग्ध करनेवाला भद्रबाहु शिशु कुमार अवस्थाको प्राप्त होकर देवकुमारोंके समान शोभने लगा ॥ ५१ ॥

कला विज्ञानमें कुशल भद्रबाहु अपने समान आयुके धारक और २ कुमारोंके साथ आनंदपूर्वक खेलता रहता था ॥ ५२ ॥

सो किसी समय यह कुमार जब अपने नगरके बाहिर और २ कुमारोंके साथ खेलता था, उस समय इसने अपनी कुशलतासे एकके ऊपर एक इसतरह क्रमशः तेरह गोली चढ़ा दीं और शीघ्र ही उनके ऊपर चतुर्दशमी गोली भी चढ़ा दी ॥ ५३-५४ ॥

जिसप्रकार चंद्रमा ताराओंसे विभूषित होता है उसी प्रकार मुनिमण्डलसे विराजित अनेक प्रकार गुणोंसे युक्त, अपने उत्तम ज्ञानरूप शशिकिरण--संदोहसे सर्व दिशायें निमल करनेवाले

तथा शोभासमान चारित्ररूप सुन्दर आभूषणसे शोभित श्रीगोवर्द्धनाचार्य गिरनार पर्वत पर श्रीनेमिनाथ भगवानकी यात्राकी अभिलाषासे विहार करते हुये कोट्टपुरमें आ निकले ॥ ५५--५७ ॥

पुरके समीप आते हुये दिगंबर साधु-समूहको देखकर खेलते हुये वे सब बालक भयसे भाग गये ॥ ५८ ॥

उनमें केवल बुद्धिमान, शुद्धात्मा, विचारशील तथा संतोषी भद्रबाहुकुमार ही वहांपर ठहरा ॥ ५९. ॥

गोवर्द्धनाचार्यने एकके ऊपर एक गोली इसी तरह ऊपर२ चतुर्दश गोली चढ़ाते हुये उसे देखकर अपने अंतरङ्गमें विचार किया कि—पञ्चम श्रुतकेवली निमित्तसे जाना जायगा—ऐसा केवलज्ञानी श्री वीरभगवानने कहा है सो वह महा तपस्वी, महा तेजस्वी, ज्ञानरूपी समुद्रका पारगामी तथा भव्य रूप कमलोंके प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान भद्रबाहु होगा ॥ ६०–६२ ॥

सो निमित्त लक्षणोंसे तो यह उत्पन्न हो गया ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार हृदयमें विचार कर कुमारसे गोवर्द्धनाचार्यने कहा—दशनश्रेणी रूप चांदनीके प्रकाशसे समस्त दिशाओंको उज्वल करनेवाले हे कुमार ! हे भाग्यशाली !! यह तो कह कि तेरा नाम क्या है ? तू किस कुलमें समुत्पन्न हुआ है ? और किसका पुत्र है ? मुनिराजके उत्तम वचन सुनकर

और उनके चरणोंको वारम्वार प्रणाम कर विनयपूर्वक कुमार बोला—विभो ! मेरा नाम भद्रबाहु है, द्विजवंशमें मैं समुत्पन्न हुआ हूं तथा सोमश्री जननी और सोमशर्मा पुरोहित मेरे पिता हैं ॥ ६३-६६ ॥

फिर मुनिराज बोले—महाभाग ! हमें अपना घर तो बताओ। मुनिराजके वचनसे, विनयसे विनम्र मस्तक सन्तुष्ट चित्त भद्रबाहु, स्वामीको अपने गृहपर ले गया। भद्रबाहुके माता-पिता महामुनिको आये हुये देखकर अत्यन्त प्रसन्नमुख हुये; और सानंद उठ तथा मुनिराजको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनके विराजनेके लिए मनोहर सिंहासन दिया। जिस प्रकार उदयाचल पर सूर्य ठहरता है उसी तरह मुनिराज भी सिंहासन पर बैठे।

इसके बाद कांतासहित सोमशर्माने हाथ जोड़कर कहा—दयासिंधो ! आज आपके चरण-सरोजके दर्शनसे मैं सनाथ हुआ। तथा आपके पधारनेसे मेरा गृह पवित्र हुआ। विभो ! मुझ दासके ऊपर कृपाकर किसी योग्य कार्यमें अनुग्रहीत करिए। बाद मुनिराज मधुर वचनसे बोले—भद्र ! यह तुम्हारा पुत्र भद्रबाहु समस्त विद्याका जाननेवाला होगा। इसलिए इसे पढ़ानेके लिए हमें देदो। मैं बड़े आदरसे इसे सब शास्त्र बहुत जल्दी पढ़ाऊंगा। मुनिराजके वचन सुनकर कांता सहित सोमशर्मा बहुत प्रसन्न हुआ।

फिर दोनों हाथ जोड़कर बोला—प्रभो ! यह आपका ही पुत्र है इसमें मुझे आप क्या पूछते हैं ? अनुग्रह कर इसे आप ले जाइए और सब शास्त्र पढ़ाइए। सोमशर्मके कहनेसे—भद्रबाहुको अपने स्थानपर लिवा ले जाकर योगिराजने उसे व्याकरण, साहित्य तथा न्याय प्रभृति सब शास्त्र पढ़ाये। यद्यपि भद्रबाहु तीक्ष्ण बुद्धिशाली था तो भी गुरुके उपदेशसे उसने सब शास्त्र पढ़े।

यह बात ठीक है कि मनुष्य चाहे कितना भी सूक्ष्मदर्शी नेत्रवाला क्यों न हो परन्तु प्रदीपके बिना वह वस्तु नहीं देख सकता। सो भद्रबाहु—गुरु रूप कर्णधारके द्वारा चलाई हुई अपनी उत्तम बुद्धिरूप नौकामें चढ़कर विनयरूप वायुवेगसे सुशास्त्ररूप समुद्रके पार हो गया॥ ६७–७९॥

फिर कितने दिनोंके प्रसन्न—मुखसरोज भद्रबाहुने करकमल जोड़कर गुण विराजित गुरुवरसे प्रार्थना की कि प्रभो ! स्वामीकी कृपासे मुझे सब निर्मल विद्याएं संप्राप्त हुयीं। आप जन्म देनेवाले माता–पिताके भी अत्यन्त उपकारक हैं। माता पिता तो जन्म-जन्ममें फिर भी प्राप्त हो सकते हैं किन्तु मनोभिलाषित फलकी देनेवाली और पूजनीय ये उत्तम विद्याएं बहुत ही दुर्लभ हैं॥ ८०–८२॥

यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने गृहपर जाऊं ? इस प्रकार प्रार्थना कर और उनकी आज्ञा लेकर कृतज्ञ तथा सम्य-

कन्त्र रूप सुन्दर भूषणसे विभूषित भद्रबाहु--गुरु महाराजके चरणोंको वारंवार नमस्कार कर "गुरु माताके समान हितके उपदेश करनेवाले होते हैं" इत्यादि उनके गुणोंका चित्तमें संचिन्तवन करता हुआ अपने मकान पर गया। यह बात ठीक है कि जो सत्पुरुष होते हैं वे गुणानुरागी होते हैं ॥८३-८५॥

उस समय माता--पिता भी अपने सुपुत्र भद्रबाहुको रूप यौवनसे युक्त तथा सुन्दर विद्याओंसे विभूषित देखकर बहुत आनंदको प्राप्त हुये ॥ ७६ ॥

यह बात ठीक है कि सुवर्णकी मुद्रिकामें जड़ा हुआ मणि आनंदको देता ही है। बाद—आनन्दित भद्रबाहुके माता-पिताने पुत्रको दोनों हाथोंसे आलिंगन कर परस्परमें कुशल समाचार पूछे। भद्रबाहु भी अपनी विद्याओंके द्वारा समस्त कुटुम्बको आनन्दित करता हुआ वहाँपर अपने गृहमें रहने लगा ॥ ८७--८८ ॥

किसी समय भद्रबाहु--संसारभरमे जिनधर्मके उद्योतकी इच्छासे अत्यन्त गर्वरूप उन्नतपर्वतके शिखर ऊपर चढ़े हुये, अभिमानी, अपनी कपोलरूप झालरीसे उत्पन्न हुये शब्दसे इच्छानुसार प्रचुर रसयुक्त महाविद्यारूप नृत्यकारिणीको नृत्य करानेवाले तथा दूसरोंसे बाद करनेमे प्रवीण ऐसे २ विद्वानोंसे विभूषित महाराज पद्मधरकी सुन्दर सभामे गया ॥८९–९१॥

पद्मधर नृपति भी समस्त विद्याओंमें विचक्षण द्विजोत्तम

भद्रबाहुको आता हुआ देखकर तथा उसे अपने पुरोहितका पुत्र समझकर मनोहर आसनादिसे उसका सत्कार किया। वह भी महाराजको आशीर्वाद देकर सभाके बीचमें बैठ गया ॥ ९२-९३ ॥

वहांपर उन मदोद्धत ब्राह्मणोंके साथ विवाद करके उदयशाली तथा विशुद्ध आत्माके धारक भद्रबाहुने-स्याद्वाद रूप खड्गसे उन सबको जीते ॥ ९४ ॥

और साथ ही उनके तेजको दबाकर अपने तेजको प्रकाशित किया जैसे चन्द्रादिके तेजको सूर्य अपना तेज प्रकाशित करता है। ९५ ॥

बुद्धिमान भद्रबाहुने अपनी विद्याके प्रभावसे सभामें बैठे हुये समस्त राजादिको प्रतिबोधित करके जैन मार्गकी अत्यन्त प्रभावना की ॥ ९६ ॥

भद्रबाहुके इस प्रकार प्रभावको देखकर राजाने जिनधर्मको ग्रहण किया और सन्तुष्टचित्त होकर उसके लिये—वस्त्राभूषण पूर्वक बहुत धन दिया ॥ ९७ ॥

बाद-वहांसे भद्रबाहु अपने गृहपर आया। न कोई ऐसा वाग्मी है, न कोई वादी है, न कोई शास्त्रका जाननेवाला है, न कोई ज्ञानवान है तथा न कोई ऐसा विनयशाली है, इसप्रकार बुद्धिमानोंके द्वारा प्रसिद्धिको प्राप्त हुये बुद्धिशाली भद्रबाहुने एक दिन अपने माता-पितासे विनयपूर्वक कहा—॥ ९८-९९ ॥

तात ! मैं संसार भ्रमणमे बहुत डरता हूँ। इसलिये इस समय तप ग्रहण करनेकी इच्छा है। यदि प्रीतिपूर्वक आज्ञा दें तो सुख प्राप्तिके अर्थ तप ग्रहण करूँ ॥ १०० ॥

इस प्रकार पुत्रके दुःखहारी वचनोंको सुनकर मातापिताने कहा—पुत्र ! इस प्रकार निष्ठुर वचन तुम्हें कहना योग्य नहीं ॥ १०१ ॥

प्यारे ! अभी तुम समझते नहीं। अरे ! कहाँ यह केलेके गर्भ समान अतिशय कोमल शरीर ? और कहाँ अच्छे२ सत्पुरुषोंके लिये भी दुर्लभ असह्य व्रतका ग्रहण ? ॥ १०२ ॥

अभी तो तुम्हारी बाल्यावस्था है इसमें तो पचेन्द्रिय समुत्पन्न सुखोंका अनुभव करना चाहिये। इसके बाद वृद्धावस्थामें तप ग्रहण करना ॥ १०३ ॥

मातापिताके वचनोंको सुनकर सरल-हृदय भद्रबाहु बोला—तात ! आपने कहा सो ठीक है परन्तु व्रत धारण किये विना यह मानव जीवन निष्फल है, जैसे सुगन्धके विना पुष्प नि ्फल समझा जाता है ॥ १०४ ॥

देखो ! मोही पुरुषोंके देहको ग्रहण करनेके लिये एक ओर तो मृत्यु तैयार है, और एक ओर वृद्धावस्था तैयार है तो ऐसे शरीरमे सत्पुरुषोंको क्या आशा हो सकती है ? ॥ १०५॥

और फिर जब जरासे जर्जरित तथा तृष्णाके स्थान इस शरीरमें वृद्धावस्था अपना अधिकार जमा लेगी तब, तप तथा

व्रत कहाँ ? दूसरे ये भोग पहले तो कुछ सुन्दरसे मालूम पड़ते हैं परन्तु वास्तवमें—सर्पके शरीर समान दुःखके देनेवाले हैं, सन्तापके करनेवाले हैं और परिपाकमें अत्यन्त दुःखके देनेवाले हैं ॥ १०६-१०७ ॥

कुगति रूप खारे जलमें भरे हुये तथा पीड़ारूप मकरादि जन्तुओंसे कलंकरूप इस असार संसार समुद्रमें जीवोंको एक धर्म ही शरण है ॥ १०८ ॥

देखो ! मोही पुरुष इन भोगोंमें व्यर्थ ही मोह करते हैं किन्तु जो बुद्धिमान हैं वे कभी मोह नहीं करते इसलिये क्या मोक्षका साधक संयम ग्रहण करूं ? ॥ १०९ ॥

इत्यादि नाना प्रकारके उत्तम २ वचनोंसे वैराग्य-हृदय भद्रबाहुने अत्यन्त मोहके कारण अपने माता पितादि समस्त बन्धुओंको समझाया। और उसके बाद—मातापिताकी आज्ञासे—संयमके ग्रहण करनेकी अभिलाषासे गोवर्द्धनाचार्यके पास गया ॥ ११०-१११ ॥

और उन्हें नमस्कार कर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बोला-स्वामी ! कर्मोंके नाश करनेवाली पवित्र दीक्षा मुझे देओ ॥ ११२ ॥

भद्रबाहुके वचनोंको सुनकर गोवर्द्धनाचार्य बोले—वत्स ! संयमके द्वारा अपने मानव जीवनको सफल करो ! गुरुकी आज्ञासे भद्रबाहु भी आत्माके दुःखका कारण बाह्याभ्यन्तर परि-

ग्रहका त्यागकर हर्षके साथ दीक्षित हो गये ॥ ११३-११४ ॥

निर्दोष तथा श्रेष्ठ व्रतोंसे मण्डित कांतिशाली, संसारके बन्धु तथा दिगंबर (निर्ग्रंथ साधुओंके मार्गमें स्थित भद्रबाहु, सूर्यके समान शोभने लगे। क्योंकि सूर्य भी तो रात्रिसे रहित तथा वर्तुलाकार होता है, तेजस्वी होता है, सारे संसारका बन्धु (प्रकाशक) होता है तथा गगन मार्गमें गमन करता रहता है ॥ ११५ ॥

मुनियोंके मूलगुण रूप मनोहर मणिमय हारलतासे विभूषित तथा दयाके धारक भद्रबाहु मुनि जीवोंके प्रिय तथा हितरूप वचन बोलते थे ॥ १६ ॥

इन्द्रियोंके ग्रहणरूपक दुर्निवार कामरूप हाथीको ब्रह्मचर्यरूप वृक्षसे बांधनेवाले, परिग्रहमें ममत्व परिणामका छेदन करनेवाले, रात्रि आहारके त्यागी, अपने आत्मस्वरूपको जाननेवाले, शास्त्रानुसार गमन आलाप भोजनादि करनेवाले, यथाविधि आदान निक्षेपणादि समितियोंमें अतिचार न लगानेवाले, इन्द्रियरूप अश्वको आत्माधीन करनेवाले, छह आवश्यक कर्मके पालक, वस्त्रत्याग, लोंच, पृथ्वीपर शयन, स्नान, खड़े होकर भोजन, दन्तका न धोना तथा एकभुक्त आदि परीषहके जीतनेवाले, समस्त संघको आनंदित करनेवाले तथा अत्यन्त विनयी बुद्धिमान भद्रबाहु मुनिने अपने गुरुके अनुग्रहसे द्वादशाङ्ग शास्त्र पढे ॥ ११७-१२१ ॥

फिर अपनेमें श्रुतज्ञानकी पूर्णता हुई समझकर भद्रबाहु— जब श्रुतज्ञानकी भक्तिमे कायोत्सर्ग धारणकर स्थित थे, उस समय प्रातःकालमें समस्त देव तथा मनुष्योंने आकर भद्रबाहु महामुनिकी अत्यन्त भक्तिपूर्वक हर्षके साथ पूजन की ॥ १२२–१२३ ॥

अपने गाम्भीर्यसे समुद्रको जीतनेवाला, कांतिसे चन्द्रमाको लज्जित करनेवाला, तेजके द्वारा सूर्यको जीतनेवाला तथा धैर्यसे सुमेरु पर्वतको नीचा करनेवाला इत्यादि गुणमणिमाला रूप भूषणसे विभूषित तथा सम्पूर्ण जगतको आनन्दका देनेवाला भद्रबाहु अत्यन्त शोभने लगा ॥ १२४-१२५ ॥

फिर कुछ दिनों बाद–गोवर्द्धनाचार्यने भद्रबाहुको गुणरत्नका समुद्र समझकर अपने आचार्यपदमें नियोजित किया। भद्रबाहु भी अपनी कांतिसमूहको प्रकाशित करता हुआ तथा महामोह रूप अन्धकारका नाश करता हुआ गोवर्द्धन गुरुके पदमें ऐसा शोभने लगा, जैसा उदयाचल पर्वत पर सूर्य शोभता है। क्योंकि—सूर्य भी तो जब उदयपर्वत पर आता है उस समय अपने कांतिसमूहको भासुर करता है तथा अन्धकारका नाश करता है ॥ १२६–१२७ ॥

यह ठीक है कि–पुण्य कर्मके उदयसे जीवोंका अच्छे उत्तम वंशमे जन्म होता है, उत्कृष्ट शरीर संप्राप्त होता है, मनोहर तथा अनवद्य विद्यायें प्राप्त होती हैं, गुणोंसे विशिष्ट गुरुओंके चरण-

कमलमें अत्यन्त भक्ति होती है, गम्भीरता, उदारता तथा धैर्यादि गुणोंकी उपलब्धि होती है, उत्तम चारित्र होता है, प्रभुत्वता होती है, जैन धर्ममें श्रद्धा (आस्था) होती है तथा चन्द्रमाके समान निर्मल अनन्तकीर्ति प्राप्त होती है ॥ १२८ ॥

निर्मल ज्ञानरूप क्षीर समुद्रकी वृद्धिके लिये चन्द्रमा, श्री गोवर्द्धन गुरुके चरण रूप उदयाचल पर्वतके लिये सूर्य, मनोहर-कीर्तिके धारक, उत्तम २ गुणोंके आलय तथा मुनियोंके स्वामी श्री भद्रबाहु मुनिराजका आप लोग सेवन करें ॥ १२९ ॥

इति श्री रत्नकीर्ति आचार्यके बनाये हुवे भद्रबाहु चरित्रके
अभिनव हिन्दी भाषानुवादमें भद्रबाहुकी दीक्षाका
वर्णनवाला प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीय परिच्छेद

पश्चात् श्री गोवर्द्धनाचार्य--नाना प्रकार तपश्चरण कर अन्तमें चार प्रकार आहारके परित्याग पूर्वक चार प्रकारकी आराधनाओंके आराधनमें तत्पर हुये और समाधिपूर्वक शरीरको छोड़कर देव तथा देवाङ्गनाओंसे युक्त और उत्कृष्ट सम्पत्तिशाली स्वर्गमें जाकर देव हुये ॥ १--२ ॥

उधर श्री भद्रबाहु आचार्य--अपने समस्त संघका पालन करते हुये भव्य मनुष्योंको संतुष्ट करते हुये तथा दूसरे मतोंको बाधित ठहराते हुये शोभते थे ॥ ३ ॥

तथा पृथ्वी मण्डलमें आनन्द बताते हुये और धर्मामृत वर्षाते हुये श्री भद्रबाहु मुनिराज--ताराओंके समूहसे युक्त जैसा चन्द्रमा गगन मण्डलमें विहरता रहता है उसी तरह पृथ्वीवलयमें विहार करने लगा ॥ ४ ॥

विवेक विनय धनधान्यादि संपदाओंसे समस्त देशको जीतनेवाले अवंती नामक देशमें प्राकारसे युक्त (वेष्टित) तथा श्री जिनमंदिर, गृहस्थ, मुनि, उत्तम धर्मसे विभूषित उज्जयिनी नाम पुरी है ॥ ५--६ ॥

उसमें--चंद्रमाके समान निर्मल कीर्तिका धारक, चंद्रमाके समान आनंदका देनेवाला, सुन्दर२ गुणोंसे विराजमान, ज्ञान

तथा कलाकौशलमें सुचतुर, जिन पूजन करनेमें इन्द्र समान, चार प्रकार दान देनेमें समर्थ, तथा अपने प्रतापसे सूर्यको पराजित करनेवाला चंद्रगुप्ति नाम राजा था ॥ ७--८ ॥

उसके--चंद्रमाकी ज्योत्स्नाके समान प्रशंसनीय तथा रूप लावण्यादि गुणोंसे शोभायमान चंद्रश्री नाम रानी थी ॥९॥

किसी समय महाराज चंद्रगुप्ति--सुखनिद्रामें वात पित्त कफादि रहित (नीरोग अवस्थामें) सोये हुये थे, उस समय रात्रिके पिछले पहरमें आश्चर्यजनक नीचे लिखे सोलह खोटे स्वप्न देखे। वे ये हैं—

(१) कल्पवृक्षकी शाखाका टूटना, (२) सूर्यका अस्त होना, (३) चालनाके समान छिद्र सहित चन्द्रमण्डलका उदय, (४) बारह फणवाला सर्प, (५) पीछे लौटा हुआ देवताओंका मनोहर विमान, (६) अपवित्र स्थान पर उत्पन्न हुआ विकसित कमल, (७) नृत्य करता हुआ भूतोंका परिकर, (८) खद्योतका प्रकाश, (९) अन्तमें थोड़ेसे जलका भरा हुआ तथा बीचमें सुखा हुआ सरोवर, (१०) सुवर्णके भाजनमें श्वानका खीर खाना, (११) हाथी पर चढ़ा हुआ बन्दर, (१२) समुद्रकी मर्यादा छोड़ना, (१३) छोटे२ बच्चोंसे धारण किया हुआ और बहुत भारसे युक्त रथ, (१४) ऊँट पर चढ़ा हुआ तथा धूलिसे आच्छादित राजपुत्र, (१५) देदीप्यमान कान्तियुक्त रत्नराशि, (१६) तथा काले हाथियोंका युद्ध।

इन स्वप्नोंके देखनेसे चन्द्रगुप्तिको बहुत आश्चर्य हुआ। और किसी योगिराजसे इनके शुभ तथा अशुभ फलके पूछनेकी अभिलाषा की ॥ १८-१७ ॥

उधर शुद्ध-हृदय भद्रबाहु आचार्य—अनेक देशोंमें विहार करते हुये बारह हजार मुनियोंको साथ लेकर भव्य पुरुषोंके शुभोदयसे उज्जयिनीमें आये और पुर बाहिर उपवनमें जंतु रहित स्थानमें ठहरे ॥ १८-१९ ॥

साधुके महात्म्यसे वन-फल पुष्पादिसे बहुत समृद्ध हो गया। वनपाल मुनिराजका प्रभाव समझकर वनमेंसे नाना प्रकार फल पुष्पादि लेकर सविनय मधुरतासे बोला—देव ! आपके पुण्यकर्माके उदयसे मुनिसमूहसे विराजमान श्री भद्रबाहु महर्षि उपवनमें आये हुए हैं। वनपालके वचन सुनकर महाराज चंद्रगुप्ति अत्यंत आनंदित हुये। जैसे मेघके गर्जनसे मयूर आनंदित होता है। उस समय राजाने वनपालके लिये बहुत धन दिया और मुनिराजके अभिवन्दनकी उत्कण्ठासे नगर भरमें आनंद भेरी दिलवाकर गीत नृत्य वादित्र तथा सामन्तादि सहित महाविभूति पूर्वक नगरसे बाहिर निकले ॥ २०-२५ ॥

और आचार्य महाराजके पास जाकर विनयभावसे उनको प्रदक्षिणा की। पश्चात् क्रमसे और २ मुनियोंकी भी अभिवन्दना

स्तुति तथा पूजनादि करके उनके मुखारविंदसे सप्ततत्व गर्भित धर्मका स्वरूप सुना। उसके बाद—मौलिविभूषित मस्तकसे भक्तिपूर्वक प्रणाम कर दोनों करकमलोंको जोड़कर भद्रबाहु श्रुतकेवलिसे पूछा। नाथ! मैंने रात्रिके पिछले प्रहरमें कल्पद्रुमकी शाखाका भंग होना प्रभृति सोलह स्वप्न देखे हैं, उनका आप फल कहें। राजाके वचन सुनकर—दांतोंकी किरणोंसे सारे दिशामण्डलको प्रकाशित करनेवाले योगिराज भद्रबाहु बोले—राजन! मैं स्वप्नोंका फल कहता हूँ उसे तुम स्वस्थचित्त होकर सुनो। क्योंकि इनका फल, पुरुषोंको वैराग्यका उत्पन्न करनेवाला तथा आगामी खोटे कालका सूचन करनेवाला है। सबसे पहले जो रविका अस्त होना देखा गया है--सो उससे इस अशुभ पंचमकालमें एकादशाङ्ग पूर्वादि श्रुतज्ञान न्यून हो जायगा।

(१) कल्पवृक्षकी शाखाका भंग देखनेसे अब आगे कोई राजा जिन भगवानके कहे हुये संयमका ग्रहण नहीं करेंगे।

(२) चंद्रमण्डलका सच्छिद्र देखना–पंचम कलिकालमें जिनमतके अनेक मतोंका प्रादुर्भाव रहता है।

(३) बारह फणयुक्त सर्पराजके देखनेसे बारह वर्ष पर्यन्त अत्यंत भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा।

(४) देवताओंके विमानको उल्टा जाता हुआ देखनेसे पंचमकालमे देवता विद्याधर तथा चारणमुनि नहिं आवेंगे।

(५) खोटे स्थानमें कमल उत्पन्न हुआ जो देखा है उससे बहुधा हीन जातिके लोग जिनधर्म धारण करेंगे किन्तु क्षत्रिय आदि उत्तम कुल--संभूत मनुष्य नहीं करेंगे।

(६) आश्चर्यजनक जो भूतोंका नृत्य देखा है उससे मालूम होता है कि मनुष्य नीचे देवोंमें अधिक श्रद्धाके धारक होंगे।

(७) खद्योतका उद्योत देखनेसे-जिन सूत्रके उपदेश करनेवाले भी मनुष्य मिथ्यात्व करके युक्त होंगे और जिनधर्म भी कहीं२ रहेगा।

(७) जल रहित तथा कहीं थोड़े जलसे भरे हुये सरोवरके देखनेसे-जहां तीर्थंकर भगवानके कल्याणादि हुये एसे तीर्थस्थानोंमे कामदेवके मदका छेदन करनेवाला उत्तम जिनधर्म नाशको प्राप्त होगा। तथा कहीं दक्षिणादि देशमें कुछ रहेगा भी।

९. सुवर्णके भोजनमें कुत्तेने जो खीर खाई है उससे मालूम होता है कि—लक्ष्मीका प्राय: नीच पुरुष उपभोग करेंगे और कुलीन पुरुषोंको दुष्प्राप्य होगी।

(१०) ऊंचे हाथीपर बंदर बैठा हुआ देखनेसे नीच कुलमें पैदा होनेवाले लोग राज्य करेंगे, क्षत्रिय लोग राज्य रहित होंगे।

(११) मर्यादाका उल्लंघन किये हुये समुद्रके देखनेसे प्रजाकी समस्त लक्ष्मी राजा लोग ग्रहण करेंगे तथा न्यायमार्गके उल्लंघन करनेवाले होंगे।

(१२) बछड़ोंसे वहन किये हुये रथके देखनेसे बहुधा करके लोग तारुण्य अवस्थामें संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्तिके घट जानेसे वृद्धा अवस्थामें धारण नहीं कर सकेंगे।

(१३) ऊंट पर चढ़े हुये राजपुत्रके देखनेसे ज्ञात होता है कि-राजा लोग निर्मल धर्मको छोड़कर हिंसामार्ग स्वीकार करेंगे

(१४) धूलिसे आच्छादित रत्नराशिके देखनेसे-निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्परमें निन्दा करने लगेंगे।

(१५) तथा काले हाथियोंका युद्ध देखनेसे मेघ मनोभिलषित नहीं वर्षेंगे।

(१६) राजन ! इस प्रकार स्वप्नोंका जैसा फल है वैसा मैंने तुमसे कहा। राजा भी स्वप्नोंका फल सुनकर संसारसे भयभीत हुआ और मनमें विचारने लगा॥ १६-४९॥

अहो ! विपत्ति रूप घातक दुष्ट जीवोंसे ओतप्रोत भरे हुये तथा कालरूपी अग्निसे महा भयंकर इस असार संसार वनमें केवल भ्रमसे यह जीव भ्रमण करता रहता है॥ ५०॥

अहो ! रोगके स्थान, नाना प्रकारकी मधुर२ वस्तुओंसे परिवर्द्धित किये हुये, गुणरहित, तथा दुष्टोंके समान दुःख

देनेवाले इस शरीरमें यह आत्मा कैसे मोह करता होगा? ॥५१॥

ये भोग सर्पके समान भयंकर हैं, असन्तोषके कारण हैं, सेवनके समय कुछ अच्छेसे मालूम देते हैं परन्तु परिपाक (आगामी) समयमें किम्पाक फलके समान प्राणोंके नाशक हैं।

भावार्थ—किम्पाक फल ऊपरसे तो बहुत अच्छा मालूम देता है। परन्तु खानेपर बिना प्राण लिये नहीं छोड़ता। वैसे ही ये भोग हैं जो सेवन समय तो जरा मनोहरसे मालूम देते हैं परन्तु वास्तवमें दुःख ही के कारण हैं ॥ ५२ ॥

अहो! कितने खेदकी बात है कि—यह जीव भोगोंको भोगता तो है। परन्तु उत्तरकालमें होनेवाले दुःखोंको नहीं देखता। जिस प्रकार बिलाव, प्रीतिपूर्वक दूध पीता हुआ भी ऊपरसे पड़नेवाली लकड़ीकी मार सहन किये जाता है। इस प्रकार भव भ्रमणसे भयभीत महाराज चन्द्रगुप्तिने शरीर गृहादि सब वस्तुओंसे विरक्त होकर—अपने पुत्रके लिये राज्य दे दिया। तथा समस्त बन्धु-समूहसे क्षमा कराकर भद्रबाहु गुरुके समीप गया और विनयपूर्वक जिनदीक्षाके लिये प्रार्थना की। फिर स्वामीकी आज्ञासे बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग कर शिव-सुखका साधन शुद्ध संयम स्वीकार किया ॥५३-५५॥

एक दिन श्री भद्रबाहु आचार्य जिनदास शेठके घर पर आहारके लिये आये। जिनदासने भी स्वामीका अत्यन्त आनन्द-

पूर्वक आह्वानन किया। परन्तु उस निर्जन गृहमें केवल साठ दिनकी आयुका एक बालक पालनेमें झूलता था। जब मुनिराज गृहमें गये उस समय बालकने—जाओ !! जाओ !! ऐसा मुनिराजसे कहा। बालकके अद्भुत वचन सुनकर मुनिराजने पूछा—वत्स ! कहो तो कितने वर्षतक ? फिर बालकने कहा—बारह वर्ष पर्यंत। बालकके वचनसे मुनिराजने निमित्त ज्ञानसे जाना कि—मालव देशमें बारह वर्ष पर्यंत भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। दयालु मुनिराज अन्तराय समझ कर उसी समय घरसे वापिस वनमें चले गये ॥ ५६–६१ ॥

पश्चात् श्री भद्रबाहु आचार्यने—अपने स्थान पर आकर समस्त मुनि संघको बुलाया और तप तथा संयमकी वृद्धिके कारण ये वचन कहने लगे—साधुओ ! इस देशमें बारह वर्षका भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। धन धान्य तथा मनुष्यादिसे परिपूर्ण और सुखका स्थान यह देश चोर राजादिके द्वारा लुटाकर शीघ्र ही शून्य हो जायगा। इसलिये संयमी पुरुषोंको ऐसे दारुण देशमें रहना उचित नहीं है। इस प्रकार स्वामीके वचन सम्पूर्ण संघने स्वीकार किये और भद्रबाहु मुनिराजने भी उसी समय समस्त संघ सहित उस देशके छोड़नेकी अभिलाषा की ॥ ६२—६५ ॥

जब श्रावकोंने मुनिराजके संघ सहित जानेके समाचार सुने तो उसी समय स्वामीके पास आये और विनयसे मस्तक

नवाकर बोले—भगवान् ! आपके गमन सम्बन्धित समाचारोंके सुननेसे भक्तिके भारसे वश हुआ हम लोगोंका मन क्षोभको प्राप्त होता है ॥ ६६-६७ ॥

नाथ ! हम लोगों पर अनुग्रह कर निश्चलतासे यहीं पर रहें। क्योंकि—गुरुके विना सब पशुओंके समान समझा जाता है ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार सरोवर कमलके विना, गन्ध रहित पुष्प सुगन्धके विना, हाथी दांतके विना शोभाको प्राप्त नहीं होता उसी तरह भव्य पुरुष गुरुके विना नहीं शोभते ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रावकोंके वचनोंको सुनकर भद्रबाहु मुनिराज बोले—उपासकगण ! तुम्हें मेरे वचनोंपर भी ध्यान देना चाहिये। देखो, इस मालवदेशमें बारह वर्ष पर्यंत अनावृष्टि होगी तथा अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा। इसलिये व्रत भङ्ग होनेके भयसे साधुओंको इधर नहीं रहना चाहिये ॥७०-७१॥

समस्त श्रावक सङ्घने स्वामीके वचन सुने, परन्तु हाथ जोड़कर फिर स्वामीसे प्रार्थना की ॥ ७२ ॥

नाथ ! यह सङ्घ धनधान्यादि विभूतिसे परिपूर्ण तथा समस्त कार्यके करनेमें समर्थ है और धर्मका भार धारण करनेके लिये धुरन्धर है ॥ ७३ ॥

सो हम उसी तरह कार्य करेंगे जिस प्रकार धर्मकी बहुत

प्रवृत्ति होगी। आपको अनावृष्टिका बिलकुल भय नहीं करना चाहिये। किंतु यही अच्छा है कि आप निश्चल चित्तसे यहीं निवास करें॥ ७४॥

उस समय कुबेरमित्र सेठ बोला—नाथ! आपके प्रसादसे मेरे पास बहुत धन है, जो धन दान दिया हुआ भी कुबेरके समान नाशको प्राप्त नहीं होगा। मैं धर्मके लिये मनोभिलषित दान करूंगा॥ ७५-७६॥

इतनेमें जिनदास सेठ भी मधुर वाणीसे बोले—विभो! मेरे यहां भी नाना प्रकार धान्यके बहुतसे कोठे भरे हुये हैं। जो सौ वर्ष पर्यन्त दान देनेसे भी कम नहीं हो सकते, तो बारह वर्षकी कथा ही क्या है? दीन हीन रङ्कादि दुःखी पुरुषोंके लिये यथेष्ट दान देऊंगा फिर यह दुर्भिक्ष क्या कर सकेगा? ॥ ७७-८०॥

इसके बाद—माधवदत्त प्रार्थना करने लगा—दयानीधि! पुण्यके उदयसे वृद्धिको प्राप्त हुई सब सम्पत्ति मेरे पास है सो उसे पात्रदानादिसे तथा समीचीन जिन धर्मके बढ़ानेमें सफल करूंगा। इतनेमें बन्धुदत्त बोला—देव! आपके प्रसादसे मेरे पास बहुत धन है सो उसके द्वारा दान मानादिसे जिनशासनका उद्योत करूंगा। इत्यादि सर्व सङ्घने भद्रबाहु आचार्यसे प्रार्थना की। तब मुनिराज बोले—आप लोग जरा अपने मनको सावधान करके कुछ मेरा भी सुनें—यद्यपि कल्पवृक्षके समान

यह आप लोगोंका सङ्घ सम्पूर्ण कामके करनेमे समर्थ है। परंतु तो भी सुन्दर चारित्रके धारण करनेवाले साधुओंको यहां ठहरना योग्य नहीं है। क्योंकि—यहां अत्यन्त भयानक तथा दुःख देनेवाला दुर्भिक्ष पड़ेगा। संयमकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंका यह समय शान्तिके समान अत्यन्त दुर्लभ होनेवाला है। यहांपर जितने साधु रहेंगे वे संयमका परिपालन कभी नहीं कर सकेंगे इसलिये हम तो यहांसे अवश्य कर्णाटक देशकी ओर जायेंगे ॥ ८०-८६ ॥

उस समय सब श्रावक लोग श्री भद्रबाहुस्वामीके अभिप्रायको समझकर रामल्य, स्थूलाचार्य तथा स्थूलभद्रादि साधुओंको प्रणाम कर भक्तिपूर्वक उनसे वहां रहनेके लिये प्रार्थना की। साधुओंने भी जब श्रावकोंका अधिक आग्रह देखा तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। और फिर बारह वर्ष पर्यन्त वहां रहनेका निश्चय किया।

शेष बारह हजार साधुओंको अपने साथ लेकर श्रीभद्रबाहु आचार्य दक्षिणकी ओर रवाना हुये। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस समय श्री भद्रबाहुस्वामी ठीक तारा मण्डलमें विराजित सुधांशुका अनुकरण करते थे।

जब श्रीभद्रबाहु साधुराज चले गये तब अवन्ती (उज्जयिनी) निवासी लोग स्वामीके चले जानेके शोकसे परस्परमे कहने लगे कि—अहो! वही तो देश भाग्यशाली है

जिसमें सुन्दर चारित्रके धारक निर्ग्रन्थ साधु विहार करते रहते हैं, जो कमलिनियोंसे शोभित होता है तथा जहां राजहंस शकुन्त रहते हैं, ऐसा जो पुराने कार्तान्तिक (ज्योतिषी) लोगोंने कहा है वह वास्तवमें बहुत ठीक है ॥ ९२ ॥

अहो ! धर्म ही एक ऐसी उत्तम वस्तु है जिससे जिन भगवानकी परिचर्याका सौभाग्य मिलता है, निर्दोष गुरुओंकी सेवा करनेका सुअवसर मिलता है, विशुद्ध वंशमें जन्म तथा ऐश्वर्य समुपलब्ध होता है। इसलिये धर्मका संचय करना समुचित है।

इति श्री रत्ननन्दि आचार्य विनिर्मित श्री भद्रबाहु चरित्रके
अभिनव हिन्दी भाषानुवादमें सोलह स्वप्नोंका फल
तथा स्वामीके विहार वर्णन नाम द्वितीय
अधिकार समाप्त हुआ । २ ॥

तृतीय परिच्छेद

श्री भद्रबाहुस्वामी विहार करते हुये धीरे धीरे किसी गहन अटवीमें पहुंचे। और वहां बड़े भारी आश्चर्यमें डालनेवाली आकस्मिक आकाशवाणी सुनी। जब निमित्तज्ञानसे उसका फल विचारा तो उन्हें यह मालूम हो गया कि अब हमारे जीवनका भाग बहुत ही थोड़ा है। उसी समय उन्होंने सब साधुसमूहको बुलाया और उनमें श्री विशाखाचार्यको गुणरूप विभवसे विराजित, दशपूर्वके जाननेवाले तथा गम्भीरता धैर्यादि उत्तम२ गुणोंके आधार समझ कर उन्हें समस्त साधु संघकी परिपालनाके लिये अपने पट्टपर नियोजित किये। और सब साधुओंसे सम्बोधन करके कहा—साधुओ! अब मेरे जीवनकी मात्रा बहुत थोड़ी बची है इसलिये मैं तो यहीं पर इसी शैलकन्दरामें रहूंगा। आप लोग दक्षिणकी ओर जावे और वहीं अपने संघके साथमें रहें। स्वामीके उदासीन वचनोंको सुनकर श्री विशाखाचार्य बोले—विभो! आपको अकेले छोड़कर हम लोगोंकी हिम्मत जानेमें कैसी होगी? इतनेमें नवदीक्षित श्री चन्द्रगुप्त मुनि विनयपूर्वक बोले—आप इस विषयकी चिंता न करें, मैं बारहवर्ष पर्यन्त स्वामीके चरणोंकी सभक्ति परिचर्या करता रहूंगा। उस समय भद्रबाहुस्वामीने चन्द्रगुप्तसे जानेके लिये बहुत आग्रह किया परन्तु उनकी अविचल भक्ति उन्हें कैसे दूर कर सकती थी? साधु लोग भी गुरु-वियोगजनित

उद्वेगसे उद्वेजित तो बहु हुये, परन्तु जब स्वामीका अनुशासन ही ऐसा था तो वे कर ही क्या सकते थे ? सो किसी तरह यहांसे चले ही।

ग्रन्थकारकी यह नीति बहुत ही ठीक है कि वे ही तो उत्तम शिष्य कहे जाते हैं जो गुरुकी आज्ञाके पालन करनेवाले होते हैं।

पश्चात् श्री विशाखाचार्य—समस्त साधुसंघके साथ ईर्यासमितिको शुद्धि रख दक्षिण देशमें विहार करते हुये मार्गमें भव्य पुरुषोंको सुमार्गके अभिमुख करते हुये और नवदीक्षित साधुओंको पढ़ाते हुये चोलदेशमें आये। और फिर वहीं रहकर धर्मोपदेश करने लगे।

उधर तत्त्वके जाननेवाले विशुद्धात्मा तथा योग साधनमें पुरुषार्थशाली श्री भद्रबाहु योगिराजने अपने मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्तिको रोककर सल्लेखना विधि स्वीकार की। और फिर वहींपर गिरिगुहामें रहने लगे। उनकी परिचर्याके लिये जो चन्द्रगुप्ति मुनि रहे थे, परन्तु वनमें श्रावकोंका अभाव होनेसे उन्हें उपवास करना पड़ता था। सो एक दिन स्वामीने उनसे कहा — वत्स ! निराहार तो रहना किसी तरह उचित नहीं है। इसलिये तुम वनमें भी आहारके लिये जाओ। क्योंकि यह जैन शास्त्रोंकी आज्ञा है।

चन्द्रगुप्त मुनि गुरुके कहे हुये वचनोंको स्वीकार कर

और उनके पादारविन्दोंको नमस्कार कर आहारके लिये वनमें भ्रमण करने लगे। उस अटवीमें पांच वृक्षोंके नीचे घूमते हुये चन्द्रगुप्ति मुनिको गुरुभक्त तथा सुदृढ़-चारित्रके धारण करनेवाले समझ कर कोई जिनधर्मकी अनुरागिणी तथा शुद्ध हृदयकी धारक वनदेवीने—वहां आकर और उसी समय अपना रूप बदल कर एक ही हाथमें—वृक्षके नीचे धरी हुई, उत्तमर अन्नसे भरी हुई तथा घी शक्करादिसे सुशोभित थाली मुनिके लिये दिखलाई।

चन्द्रगुप्ति मुनि उस आश्चर्यको अटवीमें देखकर मनमें विचारने लगे कि—भोजन भले ही तैयार क्यों न हो? परन्तु दाताके विना तो लेना योग्य नहीं है। ऐसा कह कर वहांसे चल दिये और गुरुके पास जाकर उन्हें नमस्कार किया तथा वनमें जो कुछ देखा था उस उसको सो गुरुसे कह दिया।

उस समय भद्रबाहुस्वामीने अपने शिष्यकी प्रशंसा की तथा बोले—वत्स! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया। क्योंकि—जब दाता प्रतिग्रहादि विधिसे आहार दे तभी हम लोगोंको लेना चाहिये।

दूसरे दिन फिर चंद्रगुप्ति मुनि स्वामीको नमस्कार कर आहारके लिये दूसरे वृक्षोंमें गये। परंतु वहां उन्होंने केवल भोजन पात्र देखा। उसी वक्त वहांसे लौटकर गुरुके पास गये और प्रणाम कर बीते हुये वृत्तांतको कह सुनाया। गुरुने भी

प्रशंसा कर कहा—भव्य ! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया क्योंकि साधुओंको अपने आप दूसरोंका अन्न ग्रहण करना योग्य नहीं है।

इसी तरह तीसरे दिन भी गुरुके चरणपङ्कजोंको नमस्कार कर चंद्रगुप्ति मुनि आहारके लिये गये। परंतु उस दिन भी केवल एक स्त्रीको देखकर अपने आहारकी योग्यता न समझकर शीघ्र ही लौट आये। गुरुके पास आकर और उन्हें नमस्कार कर देखे हुये वृत्तांतको कह सुनाया। चंद्रगुप्तिके वचन सुनकर भद्रबाहुने उनकी प्रशंसा कर कहा—वत्स ! जैसा शास्त्रोंमें कहा वैसा ही तुमने आचरण किया क्योंकि—जहां केवल एक ही स्त्री हो वहां साधुओंको जीमना योग्य नहीं है।

फिर चौथे दिन गुरुको प्रणाम कर आहारके लिये जब चन्द्रगुप्तिमुनि घूमने लगे तब वनदेवीने उन्हें निश्चलव्रतके धारण करनेवाले तथा पवित्र-हृदय समझकर उसी समय वनमें गृहस्थ-जनोंसे पूर्ण नगर रचा। मुनिराजने भी-मनुष्योंसे पूर्ण नगर देखकर उसमें प्रवेश किया और वहाँ गृहस्थोंसे पदपदमें नमस्कार किये हुये होकर श्रावकोंके द्वारा यथाविधि दिया हुआ मनोहर आहार ग्रहण किया।

चन्द्रगुप्ति मुनिराज पारणा करके अपने स्थानपर गये और गुरुको भक्ति पूर्वक नमस्कार किया। उस समय स्वामीने पूछा—वत्स ! अन्तराय रहित पारणा तो हुआ ? चन्द्रगुप्ति मुनि

बोले—मैंने जाते समय पासमें एक नगर देखा था। नाथ! वहीं अन्तराय रहित आहार किया है। गुरुने उनकी प्रशंसा कर कहा—तुमने ठीक शास्त्रानुसार किया।

विचारशील तथा विनय गुणके धारक चंद्रगुप्ति मुनि निरंतर उसी नगरमें आहार करते हुये गुरुके चरण कमलोंकी सेवा करने लगे।

भद्रबाहु मुनिराजने सप्तभय रहित होकर क्षुधा पिपासा संबंधी उत्कट उपद्रवको जीता। और चार प्रकार आराधनाओंका शास्त्रानुसार आराधन तथा शुद्धोपयोग स्वीकार कर निरभिलाषी ही समाधिपूर्वक, रोगके आलयभूत शरीरका परित्याग किया। और देव देवाङ्गनाओंके द्वारा नमस्कार करनेके योग्य स्वर्गमें जाकर देव हुये।

सुन्दर चारित्र रूप भूषणसे शोभित चंद्रगुप्ति मुनिराज तो वहीं पर श्रीगुरुके चरणकमलोंको लिखकर निरंतर उनकी सेवा करने लगे। ग्रंथकार कहते हैं कि—गुरुभक्तिके प्रासादसे वैभव, विनय, विद्या, विवेक, यश तथा बुद्धि प्रभृति सभी उत्तम२ गुण प्राप्त होते हैं तथा इसी गुरु भक्तिके प्रासादसे बड़े भारी अरण्यमें नगर बस सकता है और अपने मनोभिलाषित वस्तुकी कल्पवृक्षके समान उपलब्धि होती है। दान, तप, ध्यान, क्षमा, इन्द्रिय-जय आदि सब उत्तम क्रियायें गुरु सेवाके विना निष्फल समझी जाती हैं। ऐसा समझकर इसलोक तथा

परलोकमें जो सुखकी इच्छा करनेवाले भव्य पुरुष हैं उन्हें अभीष्ट फलकी देनेवाली गुरुओंकी सेवा निरंतर करते रहना चाहिये।

इधर अवन्तीमें रामल्य तथा स्थूलभद्रादि मुनि जो भद्रबा. आचार्यकी आज्ञाका उल्लंघन कर ठहरे हुये थे उनका जो जो वृत्तांत हुआ है उसे कहते हैं। भद्रबाहु मुनिराजके दक्षिणकी ओर चले जाने पर सारे अवंती देशमें-अत्यंत दुःखका देनेवाला तथा छटे कालके समान दारुण दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय कुबेरमित्रादि दयालु लोगोंने—दीन हीन दरिद्री तथा दुःखी पुरुषोंके लिये कुबेरके समान अनिवार्य दान देना आरम्भ किया। परंतु दूसरे देशोंमे दुर्भिक्षके पडनेसे लोग अत्यन्त दुःखी हुये और सुभिक्ष समझ कर उज्जयिनीमें आये। और क्षुधादिकी पीड़ासे क्षीण शरीर तथा दीन दुःखी निलज्ज होकर घूमने लगे। कितने अस्थिमात्र अवशिष्ट शरीरके हो जानेसे क्षुत्पिपासादिसे पीडित होकर मरने लगे, कितने रोगसे मरने लगे, कितने शरीर पर सूजन चढ़ आनेसे मरने लगे, कितने अपने बालबच्चोंको इधर उधर फेंकने लगे, कितने मुर्दोंका मांस खाने लगे। हाय! एक२ ग्रासके लिये माता पुत्रको मारने लगी, पुत्र माताको मारने लगा। जब सुना कि कहीं दान दिया जा रहा है तो उस समय दौड़ते हुये कितने विचारे तो आगे गिर पडते थे, कितने पृथ्वी पर पड़े हुये दूसरोंके द्वारा पीडा दिये जाते थे, कितने रोते थे। हा! जिधर देखो उधर

ही सारे नगरमें, मार्गमें, गलियोंमें अधिक क्या घर२ में रङ्क लोग व्याप्त हो रहे थे। कितने विचारे श्वास ले रहे थे, कितने अंतिम दशाको पहुंच चुके थे। उस समय यह मालूम होता था कि उज्जयिनी ही रंकमयी हो रही है।

एक समय जब रामल्यादि मुनि आहार लेकर वनमें गये उस समय एक मुनि पीछे रह गये थे। उन्हें उदर भरे हुये देखकर बहुत लोग इकट्ठे हो गये। और निर्दय तथा क्रूरचित्त होकर उनके उदरको चीर डाला और उसमेंसे अन्न निकाल कर उसी समय खा गये। जब नगरके लोगोंने इस घोर तथा अत्यन्त भीषण उपद्रवके समाचार सुने तो सारा नगर उसी समय हाहाकारसे पूर्ण हो गया। दुःख रूप दावानलसे मलीन हुये सब श्रावक लोग मिले और व्याकुल मन होकर मुनि सङ्घके पास आये। यति लोगोंमें विराजमान गुरुको नमस्कार कर प्रार्थना करने लगे—स्वामी! यह काल अत्यन्त भीषण है अथवा यों कहिये कि यह दूसरा यम आया है। इसीलिये अनुग्रह कर हम लोगोंके वचनोंको स्वीकार करें और वनको छोड़कर समस्त मुनि लोग पुरके बीचमें रहें तो अच्छा हो, जिससे हम लोगोंके चित्तमें सन्तोष हो और साधुओंकी भी रक्षा होगी। क्योंकि शुद्ध ज्ञानके धारक आप लोगोंके लिये तो जैसा वन है वैसा ही नगर है। श्रावक लोगोंकी प्रार्थनासे साधुओंने भी उनके बचनोंको स्वीकार किया। श्रावक लोग भी

उसी समय समस्त संघको उत्सवपूर्वक नगरमें लिवा लाये।

जातिके अनुसार वे सब साधु पृथक२ स्थानमें ठहराये गये। वे साधु भी संयमपूर्वक वहाँ पर ठहरे। इसी तरह प्रति वर्ष मालव देशमें दुःख देनेवाला दुर्भिक्ष पडने लगा और जब मुनि लोग आहारके लिये जाते तो उसी समय उनके पीछे२ रङ्क लोग हो जाते थे। और देओ! देओ!! ऐसा करुणामय वचन बोलने लगते थे। उन लोगोंकी रुकावटसे साधु आहार लेने तक नहीं जाने पाते थे। जब कितने लोग क्रोधित होकर लकड़ी आदिसे उन क्षीण शरीरके धारक रङ्क लोगोंको मारते थे उस समय दीन लोग दुःखित मन होकर विलाप करने लगते थे, रोने लगते थे। दयालु मुनिराज ऐसे लोगोंको तथा गृहके द्वारको बंद देखकर अपने लिये अंतराय समझ स्थानपर लौट आते थे। उस समय श्रावक लोग भक्ति भारसे अत्यंत व्याकुल होकर गुरुके पास गये और नमस्कार कर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगे—

नाथ! क्या किया जाय? सारी पृथ्वी दीन लोगोंसे पूर्ण हो रही है और उन्हींके भयसे कोई क्षण मात्र घरके किवाड़ नहीं खोलते हैं। इसी कारण हम लोग दिनमें भोजन नहीं बना सकते, रात्रिमें भोजन बनता है। यह काल महा भयंकर है धर्मका नाश करनेवाला है तथा असह्य है। इसलिये आप लोग रात्रिके समय हमारे गृहोंसे पात्रोंमें अपने स्थान पर

आहार ले जावें और रङ्क लोगोंसे भय रहित होकर दिन निकलने बाद वहींपर आहार करें। सुखकी कारण हम लोगोंकी विज्ञप्ति आप स्वीकार करें।

श्रावक लोगोंके वचन सुनकर साधु लोग भी उन्हें कहने लगे—जब तक अच्छा काल आवेगा तब तक यही किया जावेगा ऐसा कहकर मार्गसे परिभ्रष्ट हुये उन कुमार्गगामी साधु लोगोंने तुम्बीके पात्र स्वीकार किये। और भिक्षुक तथा रङ्क आदिके भयसे हाथमें लकड़ी लेकर गृहस्थोंके घरसे अपने स्थानपर आहार लाने लगे तथा गृहके द्वारोंको बन्दकर गवाक्षके छिद्रमें परस्परमें आहार देने लगे। वे कुपथगामी साधु इसी तरह निरन्तर आहार लाकर अपना उदर पूर्ण करने लगे।

एक समय कोई क्षीण शरीरका धारक एक साधु आहारके लिये पात्रको हाथमें लेकर रात्रिके समय गृहसे निकला और यशोभद्र सेठके सुन्दर मकानमें घुसा। उस समय सेठकी धनश्री नामकी भार्या गर्भवती थी। रात्रिके समय लकड़ी और पात्रसे युक्त साधुके भयंकर रूपको देखकर वह समझी कि यह कोई राक्षस है इसी भ्रममें उनके हृदयमें बहुत भय हुआ और उसी भयमें उनका गर्भपात हो गया। मुनि भी उसी समय घरसे लौट गये और वहां हाहाकार मच गया। फिर गृहस्थलोग मुनियोंके पास जाकर कहने लगे-विभो! यह काल तो अब व्यतीत हुआ, कृपया हमारे वचनों पर ध्यान दें।

उसी समय समस्त संघको उत्सवपूर्वक नगरमें लिवा लाये।

जातिके अनुसार वे सब साधू पृथक२ स्थानमें ठहराये गये। वे साधु भी संयमपूर्वक वहीं पर ठहरे। इसी तरह प्रति वर्ष मालव देशमें दुःख देनेवाला दुर्भिक्ष पड़ने लगा और जब मुनि लोग आहारके लिये जाते तो उसी समय उनके पीछे२ रङ्क लोग हो जाते थे। और देओ! देओ!! ऐसा करुणामय बचन बोलने लगते थे। उन लोगोंकी रुकावटसे साधु आहार लेने तक नहीं जाने पाते थे। जब कितने लोग क्रोधित होकर लकड़ी आदिसे उन क्षीण शरीरके धारक रङ्क लोगोंको मारते थे उस समय दीन लोग दुःखित मन होकर विलाप करने लगते थे, रोने लगते थे। दयालु मुनिराज ऐसे लोगोंको तथा गृहके द्वारको बंद देखकर अपने लिये अंतराय समझ स्थानपर लौट आते थे। उस समय श्रावक लोग भक्ति भारसे अत्यंत व्याकुल होकर गुरुके पास गये और नमस्कार कर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगे—

नाथ! क्या किया जाय? सारी पृथ्वी दीन लोगोंसे पूर्ण हो रही है और उन्हींके भयसे कोई क्षण मात्र घरके किवाड़ नहीं खोलते हैं। इसी कारण हम लोग दिनमें भोजन नहीं बना सकते, रात्रिमें भोजन बनता है। यह काल महा भयंकर है धर्मका नाश करनेवाला है तथा असह्य है। इसलिये आप लोग रात्रिके समय हमारे गृहोंसे पात्रोंमें अपने स्थान पर

आहार ले जावें और रङ्क लोगोंसे भय रहित होकर दिन निकलने बाद वहींपर आहार करैं। सुखकी कारण हम लोगोंकी विज्ञप्ति आप स्वीकार करें।

श्रावक लोगोंके वचन सुनकर साधु लोग भी उन्हें कहने लगे—जब तक अच्छा काल आवेगा तब तक यही किया जायगा ऐसा कहकर मार्गसे परिभ्रष्ट हुये उन कुमार्गगामी साधु लोगोंने तुम्बीके पात्र स्वीकार किये। और भिक्षुक तथा कुत्ते आदिके भयसे हाथमें लकड़ी लेकर गृहस्थोंके घरसे अपने स्थानपर आहार लाने लगे तथा गृहके द्वारोंको बन्दकर गवाक्षके झरोखेसे परस्परमें आहार देने लगे। वे कुपथगामी साधु इसी तरह निरन्तर आहार लाकर अपना उदर पूर्ण करने लगे।

एक समय कोई क्षीण शरीरका धारक एक साधु आहारके लिये पात्रोंको हाथमें लेकर रात्रिके समय गृहसे निकला और यशोभद्र शेठके सुन्दर मकानमें घुसा। उस समय सेठकी धनश्री नामकी भार्या गर्भवती थी। रात्रिके समय लकड़ी और पात्रादिसे युक्त साधुके भयंकर रूपको देखकर वह समझी कि यह कोई राक्षस है इसी भ्रमसे उनके हृदयमें बहुत भय हुआ और उसी भयसे उनका गर्भपात हो गया। मुनि भी उसी समय घरसे लौट गये और वहां हाहाकार मच गया। फिर गृहस्थलोग मुनियोंके पास जाकर कहने लगे—विभो! यह काल तो अब व्यतीत हुआ, कृपया हमारे वचनों पर ध्यान दें।

यह विषम रूप लोगोंके भयका कारण है। इसलिये कन्धे पर कम्बल धारण करें और रात्रिमें भोजन लाकर दिनमें किया करें तो अच्छा हो। जबतक काल अच्छा न आवें तबतक इसी तरह करा करें। और जब काल अच्छा आ जाय, देशमें सुभिक्ष होने लगे तब तपश्चरण करिये। उस समय समस्त साधुओंने श्रावकोंके वचनोंको स्वीकार किये। इसी तरह वे साधु धीरे २ शिथिल होकर प्रमादमें दोष लगाने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं—यह बात ठीक है कि—कुमार्गगामी लोग क्या अकार्य नहीं करते हैं?

इस प्रकार अत्यन्त दुःखपूर्वक जब बारह वर्ष बीत चुके, अच्छी वर्षा होने लगी, लोग सुखी होने लगे, तथा देशमें सुभिक्ष होने लगा तो विशाखाचार्य सब मुनियोंको साथ लेकर दक्षिण देशसे उत्तर देशकी ओर आये। और जहां श्री भद्रबाहु आचार्यने समाधि ली थी वहां आकर ठहरे तथा विनयपूर्वक श्री भद्रबाहु गुरुके पदपङ्कजको प्रणाम किया। पश्चात् श्री चन्द्रगुप्ति मुनिराजने विशाखाचार्यको प्रणाम किया। उस समय विशाखाचार्यने मनमें विचारा कि श्रावकके बिना ये यहां कैसे रहे होंगे? इसी बिचारसे प्रति वन्दना भी न की। उस जगह श्रावकोंका अभाव समझ कर उस दिन सब मुनियोंने उपवास किया। तब चन्द्रगुप्ति मुनिराज बोले—भगवन! उत्तम २ लोगोंसे परिपूर्ण बड़ा भारी यहां एक नगर है। उसमें श्रावक लोग भी

निवास करते हैं। वहां आप जाकर आहार करिये। चन्द्रगुप्ति मुनिके वचनोंसे सब साधुओंको आश्चर्य हुआ और फिर वे भी वहीं पारणाके लिये गये। नगरमें पद २ में श्रावक लोगोंके द्वारा नमस्कार किये जाकर वे मुनि विधिपूर्वक आहार कर जब अपने स्थानपर आये उस समय नगरमें एक ब्रह्मचारी अपना कमण्डल भूल आया था परन्तु जब वह फिर उसे लेनेको गया तो वहांपर नगर न देखा किन्तु किसी वृक्षकी डाली पर कमण्डल टंगा हुआ उसे दीख पड़ा। उसे लेकर ब्रह्मचारी गुरुके पास आया और वह आश्चर्यजनक समाचार ज्योंका त्यों यह सुनाया। विशाखाचार्य भी इस वृत्तान्तको सुनकर मनमें विचारने लगे—

अहो! यह चन्द्रगुप्ति मुनि शुद्ध चारित्रका धारक है। मैं तो निश्चयसे यही समझता हूं कि इसीके पुण्यप्रतापसे देवता लोगोंने यह नगर रचा था। इस प्रकार शुद्ध चारित्रके धारक चन्द्रगुप्तिमुनिकी प्रशंसा कर उन्हें वहांका सब उदन्त कह सुनाया और फिर प्रति वन्दना कर कहा कि देवता लोगोंके द्वारा कल्पना किया हुआ आहार साधुओंको लेना उचित नहीं है। इस लिये सबको प्रायश्चित लेना चाहिये। विशाखाचार्यके कहे अनुसार चन्द्रगुप्ति मुनिराजने प्रायश्चित्त लिया और उसी समय समय सारे संघने भी स्वामीसे प्रायश्चित लिया।

इसके बाद—पापरूपी मेघोंके नाश करनेके लिये वायुके

समान, उत्तम२ चारित्रके धारक साधुओंमें प्रधान, सूर्यके समान तेजस्वी तथा विशुद्ध ज्ञानके अद्वितीय स्थान श्री विशाखाचार्य, साधुओंके संघके साथ२ दक्षिण देशकी ओरसे विहार करते हुये उज्जयिनी नगरीमें आकर फलफूलादिसे समृद्ध उसके उपवनमें ठहरे।

निरंतर सिद्धभगवानका ध्यान करनेवाले, अज्ञान रूप अंधकारके समूहको विध्वंस करनेवाले तथा विशुद्धचारित्रके धारक श्रीभद्रबाहु रूप सूर्यके लिये अपने मनोभिलषित स्वाभाविक सुखकी समुपलब्धिके लिये वारंवार अभिवंदन करता हूँ। इस श्लोकमें श्रीभद्रबाहुस्वामीको सूर्यकी उपमा दी है क्योंकि सूर्य भी निरतर आकाशमें रहता है, अंधकारका नाश करनेवाला होता है तथा निष्कलङ्क होता है।

इति श्री रत्ननन्दि आचार्यविरचित श्री भद्रबाहु चरित्रमें द्वादश वर्ष पर्यन्त दुर्भिक्ष तथा विशाखाचार्यके दक्षिण देशमें आगमनके वर्णनवाला तृतीय अधिकार समाप्त हुआ। ३॥



चतुर्थ परिच्छेद

जब स्थूलाचार्यने-सुना कि श्री विशाखाचार्य समस्त संघ सहित दक्षिण देशसे मालव देशकी ओर आये हुये हैं तो उनके देखनेके लिये अपने शिष्योंको भेजें। शिष्यने भी स्वामीके पास जाकर भक्तिपूर्वक उनकी वंदना की। परंतु श्रीविशाखाचार्यने उन लोगोंके साथ प्रति-वंदना न की और पूछा कि—मेरे न होते हुये यह कौन दर्शन तुम लोगोंने ग्रहण किया है?

शिष्य लोग श्रीविशाखाचार्यके वचनोंको सुनकर लज्जित हुये और उसी समय जाकर सब वृत्तांत अपने गुरुसे कह सुनाया। उस समय रामल्प, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य अपने अपने संघके सब साधुओंको बुलाकर उनसे कहने लगे—कि हम लोगोंको अब क्या करना चाहिये? तथा ऐसी कौन स्थिति है जिससे हमें सुख होगा? उस वक्त बिचारे वृद्ध स्थूलाचार्यने कहा—साधुओ! मनोभिलषित सुख देनेवाले मेरे कहनेपर जरा ध्यान दो।

श्री जिनभगवानके कहे हुये मार्गका आश्रय ग्रहण कर शीघ्र ही इस बुरे मार्गका परित्याग करो। और मोक्षकी प्राप्तिके लिये छेदोपस्थापना लेओ। स्थूलाचार्यके कहे हुये हितकर वचन भी उन लोगोंको अनुरागजनक न हुये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह ठीक है कि—जो लोग पित्तज्वर ग्रसित होते हैं उन्हें

शकरा भी कड़वी लगती है। उस समय और२ मुनि लोग यौवनके घमण्डमें आकर बोले—महाराज ! तुमने कहा तो है परन्तु ऐसा कहना तुम्हें योग्य नहीं। क्योंकि इस विषम पंचम कालमें क्षुधा पिपासादि दुस्सह बाईस परिषहोंको तथा अन्तरायादिको कौन सहेगा ? मालूम होता है कि अब आप वृद्ध हो गये हैं इसीसे अच्छे बुरेको नहीं जानते हैं। भला यह तो कहो कि ऐसे सुखसाध्य मार्गको छोड़कर कौन ऐसा होगा जो कठिन मार्गका आचरण करेगा ? फिर भी विचारें। स्थूलाचार्यने कहा—तुम यह निश्चय रक्खो कि—यह मत उत्तम नहीं है।

इस समय तो किम्पाकफलके समान मनोहर मालूम देता है परन्तु आगे अत्यन्त ही दुःखका देनेवाला होगा। जो लोग मूलमार्गको छोड़कर खोटे मार्गकी कल्पना करते हैं वे संसाररूप वनमें भ्रमण करते हैं। जैसे मारीचादिने कुमार्ग चलाकर चिरकाल पर्यन्त संसारमें पर्यटन किया। यह मार्ग कभी मुक्तिप्रद नहीं हो सकता किन्तु उदर भरनेका साधन है। जब स्थूलाचार्यके ऐसे बचन सुने तो कितने ही भव्य साधुओंने तो उसी समय मूल मार्ग (दिगम्बर मार्ग) स्वीकार कर लिया और कितने ही मुनि महाक्रोधित हुये। यह ठीक है कि शीतल जलमें भी क्या गरम तेल प्रज्वलित नहीं होता ? किन्तु अवश्य होता ही है ॥ ७-१५ ॥

तब वे क्रोधी मुनि बोले—यह बुड्ढा है क्या जानता है

जो ऐसा बिना विचारे बोल रहा है। अथवा यों कहिये कि वृद्धावस्थामें बुद्धिके भ्रमसे विक्षिप्त हो गया है। और जब तक वह जीता रहेगा तब तक हम लोगोंको सुख कहां? ऐसा विचार कर पापात्माओंने स्थूलाचार्यके मारनेका संकल्प किया। और फिर अत्यन्त कुपित होकर उन दुष्ट तथा मूर्खोंने निर्वि-चारसे विचारे स्थूलाचार्यको डण्डा डण्डोंसे मारकर वहीं पर एक गहरे गड्ढेमें डाल दिया।

नीतिकार कहते हैं कि यह ठीक है—खोटे शिष्योंको दी हुई उत्तम शिक्षा भी दुष्टोंके साथ मित्रताकी तरह दुःख देनेवाली होती है।

उस समय स्थूलाचार्य आर्त्तध्यानसे मरण कर अनंतर देव हुआ और अवधिज्ञानसे अपने पूर्वजन्मके वृत्तांतको जानकर उन मुनि धर्माभिमानियोंके ऊपर जैसा उपद्रव पहले तुमने मेरे ऊपर किया था वैसा ही उपद्रव मैं भी अब तुम्हारे ऊपर करूंगा, ऐसा कहते हुए धूलि पत्थर तथा अग्नि आदिकी वृष्टिसे घोर उपद्रव करने लगा॥ १६-२१॥

तब साधु लोग अत्यन्त भयभीत होकर व्यन्तरसे प्रार्थना करने लगे—देव! हमारा अपराध क्षमा करो। यह हम लोगोंने मूर्खतासे किया था। देव बोला—यदी यदि तुम्हें इच्छित है तो जब तुम लोग इस कुमार्गको छोड़कर यथार्थ मार्गको ग्रहण करोगे तब ही तुम्हें उपद्रव रहित करूंगा। देवके वचन सुनकर

साधुओंने कहा— तुमने कहा सो तो ठीक है परन्तु मूलमार्ग (निर्ग्रंथ मार्ग) को हम लोग धारण नहीं कर सकते। क्योंकि वह अत्यन्त कठिन है, किंतु आप हमारे गुरु हैं इसलिए भक्ति-पूर्वक आपकी निरन्तर पूजन करते रहेंगे।

इस प्रकार अत्यन्त विनयसे उस क्रोधित व्यन्तरको शांत करके गुरुकी हड्डियां लाये और उसमें गुरुकी कल्पना की। आज भी इस लोकमें हड्डियें पूजी जाती हैं तथा नमस्कार किया जाता है और उनमें क्षपण (मुनि) की हड्डीकी कल्पना होनेसे ("खमणादिहडी") व्रत भी उसी दिनसे चल पड़ा है। इसके बाद उसकी शान्तिके ही लिये आठ अंगुल लम्बी तथा चार अंगुल चौड़ी एक लकड़की पट्टी बनाकर यह वही गुरु है ऐसी कल्पना कर उसे पूजने लगे।

इस प्रकार यथायोग्य उसकी स्थापना करके सम्मत अर्द्धफालक लोगोंने जब पूजना आरम्भ किया तब उसने उपद्रव करना बंद किया। फिर धीरे२ इसी तरह पुजाता हुआ वह पर्युपासन नामक कुलदेवता कहलाने लगा। सो आज भी जल गंधादि द्रव्योंसे पूजा जाता है। यही आश्चर्यजनक अर्द्ध-फालक मत कलियुगका बल पाकर आज सब लोगोंमें फैल गया। जैसे जलमें तेलके बिन्दु फैल जाते हैं ॥ ६०—६९ ॥

यह अर्द्धफालक दर्शन जिन भगवानके वास्तविक रूपकी कल्पना करके बिचारे मूर्ख लोगोंको खोटे मार्गमें फंसाता है।

जिस प्रकार इन इन्द्रियोंके वशवर्ती लोगोंने स्वयं ही व्रत धारण किया उसी तरह जिन भगवानके सूत्रकी भी अपनी बुद्धिके अनुसार मिथ्या कल्पना की ॥ ३१-३२ ॥

इसी तरह बहुत काल बीत जाने पर उज्जयिनीमें चंद्रकीर्त्ति नामका राजा हुआ। उसके लक्ष्मीकी समान चंद्रश्री नामकी पट्टरानी तथा उन दोनोंमें रूपलावण्यादि गुणोंसे सुशोभित चंद्रलेखा नामकी उत्तम एक कन्या हुई। उसने उन कुपथगामी अर्द्धफालक साधुओंके पास शास्त्र पढ़ा।

सौराष्ट्र (सौरठ) देशमें उत्तम वलभीपुर नाम पुर था। उसका—अपने तेजसे समस्त शत्रुओंको संतापित करनेवाला तथा नीति शास्त्रका जाननेवाला प्रजापाल नामका राजा था। उसके—सुन्दर२ लक्षणोंसे सुशोभित प्रजावती नामकी रानी थी। उन दोनोंमें सुन्दर गुणोंका धारक, रूप सौभाग्य लावण्यादिसे युक्त तथा ज्ञान विज्ञानका जाननेवाला लोकपाल नामका पुत्र था ॥ ३३-३८ ॥

प्रजापालने—अपने पुत्रके लिये गुणोंसे उज्वल चंद्रकीर्त्तिकी नवयौवनवती चंद्रलेखा पुत्रीके लिये प्रार्थना की। लोकपाल भी चन्द्रलेखाके साथ विवाह करके उसके साथ नाना प्रकारके उपभोगोंको भोगने लगा। जैसे शचिके साथ इन्द्र अनेक प्रकारके भोगोंको भोगता रहता है। पश्चात् धीरे २ शुभोदयसे अपने पिताके विशाल राज्यको पाकर चन्द्रलेखाको अपनी पट्टरानी

बनाई। और फिर समस्त राजा लोगोंको अपने शासनकी आधीनतामें रखकर रानीके साथ उपभोग करता हुआ राज्यका निर्भय पालन करने लगा ॥ ३९-४२ ॥

किसी समय जब चन्द्रलेखाने स्वामीको प्रसन्नचित्त देखा तो प्रार्थना की—नाथ! मेरे गुरु उज्जयिनी पुरीमें है। उन उपकृत गुरुओंको मेरे कहनेसे आप अवश्य बुलावें। राजाने इस भयसे कि कहीं यह असंतुष्ट न होजाय इसलिये उसके वचनोंको स्वीकार किया। और उनके बुलानेके लिये अपने लोगोंको भेजे। वहां जाकर उन लोगोंने गुरुओंको भक्ति पूर्वक नमस्कार किया और वल्लभीपुर चलनेके लिये प्रार्थना की। उनकी बार २ प्रार्थनासे तथा विनयसे जिनचंद्रादि अर्द्धफालक वल्लभीपुरमें आये। जब राजाने उन लोगोंका आगमन सुना तो बहुत आनंदित होकर—सामंत मंत्री पुरवासी तथा परिवारके लोगोंके साथ २ गीत नृत्य संगीतादिके उत्तम शब्दसे दशो दिशाओंको परिपूर्ण करता हुआ उनकी वंदनाके लिये नगरसे निकला। और दूरहीसे साधुओंको देखकर मनमें विचारने लगा—अहो! लोकमे अपनी विडम्बना करनेवाला तथा निन्दनीय यह कौन मत प्रचलित हुआ है? नग्न होकर भी वस्त्रयुक्त तो कोई साधु नहीं देखे जाते है। इसलिये इनके पास जाना योग्य नहीं है। ऐसे नूतन मतका आविष्कार देखकर राजा शीघ्र ही उस स्थानसे

लौटकर अपने मकान पर आ गया। तब रानीने राजाके हृदयका भाव समझकर गुरुओंकी भक्तिसे उनके लिये वस्त्र भेजे। साधुओंने भी उसके कहनेसे वस्त्रोंको ग्रहण किये। उसके बाद-राजाने उन साधुओंकी भक्तिपूर्वक पूजन की तथा सन्मान किया। ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात ठीक है कि-स्त्रियोंके रागमें अनुरक्त हुये पुरुष क्या२ अकार्य नहीं करते हैं ?

उसी दिनसे श्वेतवस्त्रके ग्रहण करनेसे अर्द्धफालकमतसे श्वेताम्बर मत प्रसिद्ध हुआ। यह मत महाराज विक्रम नृपतिके मृत्युकालके १३६ वर्षके बाद लोकमें प्रादुर्भूत हुआ है। फिर उस मतमें जिनचंद्रने-जिन प्रतिपादित आगमसमूहको-केवली भगवान कवलाहार करते हैं, स्त्रियोंको तथा सग्रंथ मुनि लोगोंको उसी भवमें मोक्ष होता है और महावीरस्वामीके गर्भका अपहरण होना इत्यादि प्रतिकूल रीतिसे वर्णन किया ॥ ४३-५७ ॥

परन्तु यह कथन प्रत्यक्ष बाधित है इसे हम सिद्ध करते हैं। जिसे अनन्तसुख है उसके आहारकी कल्पनाका सम्भव मानना ठीक नहीं है। यदि कहोगे कि केवलीके कवला-आहार है तो उसके अनन्त सुखका व्याघात होगा। क्योंकि आहार तो क्षुधाके लगने पर ही किया जाता है और केवली भगवानके तो क्षुधाका अभाव रहता है। क्षुधाके अभावमें आहारकी भी कोई आवश्यकता नहीं दीखती यह भी तो ठीक, जैसे मूलका नाश हो जानेपर वृक्ष किसी तरह नहीं बढ़

सकता. उसी तरह क्षुधाका अभाव हो जानेसे आहार करना भी नहीं माना जा सकता। यदि फिर भी आहारकी कल्पना की जाय तो जिन भगवानके शरीरमें सदोषता आती है ॥५८-५९॥

ये बुभुक्षा आदि तो वेदनीय कर्मके सद्भावमें होती हैं और जिन भगवानके मोहनीय कर्मका नाश हो जानेसे वेदनीय कर्म अपना कार्य करनेमे शक्तिविहीन (असमर्थ) है। जैसे जली हुई रस्सी बन्धनादि कार्यके उपयोगमे नहीं आ सकती। इस-लिये केवली भगवानके दोषप्रद केवली–आहारकी कल्पना करना अनुचित है। और मोहमूल ही वेदनीय कर्म क्षुधादि वेदनाका देनेवाला होता है। जिन भगवानके मोहनीय कर्मका नाश हो जानेसे वेदनीय कर्म अपना कार्य नहीं कर सकता। जैसे मूल रहित वृक्षपर फल पुष्पादि नहीं हो सकते। भोजन करनेकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं और वह मोहसे होती है और मोहका जिन भगवानके जब नाश हो गया है तो क्योंकर आहारकी कल्पनाका संभव माना जाय ? ॥ ६०–६४ ॥

उसे ही स्फुट करते हैं—

जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें विरक्त हैं, तीन गुप्तिके पालन करनेवाले हैं ऐसे साधुओंके कर्मोंके नाश करनेवाले ध्यानकी सिद्धि होती है, ध्यानसे शुद्ध शांतरसका समुद्भव होता है, शा ।स्मम अ त्वज्ञान होता है, फिर उसी आत्मावबोधसे

मोहनीय कर्मका नाश करके साधु लोग क्षीणमोही होकर और शुक्लध्यानरूप खड्गके द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश करके जब केवली होते हैं तो क्षुधा तृषादि अठारह दोषोंसे रहित अनंतसुख रूप पीयूषके पानसे संतुष्ट तथा लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञानके धारक ऐसे केवली भगवान आहार क्यों कर सकते हैं ? यदि ये क्षुधादि दोष जिन भगवानमें माने जावें तो दोष रहित शुद्ध स्वरूप जिनदेव फिर वीतराग कैसे कहे जा सकेंगे ?

कदाचित् कहो कि—जिस तरह भोजन करते हुये उदासीन साधुओंके वीतरागता बनी रहती है तो केवली भगवानके क्यों कर न रहेगी ?

परन्तु यह कहना बुद्धिमानोंका नहीं है, किन्तु विक्षिप्त पुरुषोंका केवल प्रलाप है। मुनियोंके आहार करनेमें वीतरागताका अभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें केवल उपचार (कथनमात्र) से वीतरागता है।

कदाचित् कहो कि—आहारके विना शरीरकी स्थिति कहींपर नहीं देखी जाती है इसीलिये केवली भगवानके आहारकी कल्पना अनुचित नहीं है ॥ ६७-७१ ॥

यह कथन भी अबाधित नहीं है। सो ही स्फुट किया जाता है—नोकर्म आहार (१) कर्म आहार (२) कवलाहार (३) लेप आहार (४) उजाहार (५) मानस आहार (६) ऐसे

आहारके छह विकल्प हैं। तो अब यह कहो कि—शरीरधारियोंके शरीरकी स्थितिका कारण कवलाहार ही है या औरसे भी शरीरकी स्थिति रह सकती है? हम लोग तो कर्म नोकर्म आहारके ग्रहणसे केवली भगवानके शरीरकी स्थिति मानते हैं। कदाचित् कहो कि—शरीरका स्थिति कवलाहार होने है तो भी व्यभिचार आता है। क्योंकि एकेन्द्री जीवोंके लेप आहारका संभव है, देवताओंके मानसाहार होता है और पक्षियोंके उजा-आहार होता है। यही बात दूसरे ग्रन्थोंमें लिखी है—

"केवली भगवानके नोकर्म आहार होता है, नारकियोंके कर्म आहार होता है, देवताओंके मानस आहार होता है, पक्षियोंके ऊजा आहार होता है तथा एकेन्द्रियोंके लेप आहार होता है।"

इसलिये स्वप्नमें भी बुद्धिमानोंको केवली भगवानके लिये कवलाहारकी कल्पना करना योग्य नहीं है। अथवा दूसरी यह भी बात है कि उनके आहारकी भी कल्पना केवल वेदनीय कर्मके सद्भाव होनेसे मानी जाती है॥ ७२–७८॥

अस्तु, वह रहे परंतु यह तो कहो कि—जब केवली भगवान् सर्व लोकालोकके देखने जाननेवाले हैं तो संसारमें नाना प्रकारके जीवोंका वध देखते हुये कैसे भोजन कर सकते हैं? अथवा जिन भगवान भी अल्पज्ञानी लोगोंकी तरह शुद्ध तथा अशुद्ध भोजन करेंगे क्या? और यदि अन्तरायोंके होते

हुये भी भोजन करेंगे तो केवली भगवानके श्रावकोंसे भी अत्यंत निन्दनीय होनता ठहरेगी। उनके आहारकी भी कल्पना केवल वेदनीय कर्मके सद्भाव होनेसे मानी जाती है।

अरे! मांस रक्त आदि अपवित्र वस्तुओंको देखते हुये भी यदि केवली भगवान आहार करें तो फिर यों कहिये कि जिन भगवानने अपने सर्वज्ञपनेको जलाञ्जलि दे दी। तोभी केवली भगवान कवला आहार करते हैं ऐसा जो लोग कहते हैं समझिये कि वे निर्लज्ज हैं, खोटे मतरूपी मदिराके मदमें चकचूर हो रहे हैं॥ ७०-८२॥

इस प्रकार केवली भगवानके आहारका प्रतिषेध किया गया। उसी तरह जो लोग स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष प्राप्त होना कहते हैं समझिये कि-वे लोग दुराग्रहरूप पिशाचके वशवर्ती हैं। अथवा यों कहिये कि वे विक्षिप्त हो गये हैं। यदि स्त्रियें अत्यन्त घोर तपश्चरण भी करें तोभी उस जन्ममें उन्हें मोक्ष नहीं हो सकता॥ ८३-८४॥

कदाचित्कहो कि-निश्चयनयसे स्त्री और पुरुषोंकी आत्मामें कुछ भी विशेषता न होनेसे उसी भवमें स्त्रियोंको मोक्षकी समुपलब्धि क्यों नहीं हो सकती? परन्तु यदि केवल तुम्हारे कथनानुसार सब जीवोंके सामान्य होनेहीसे स्त्रियोंको मोक्षकी प्राप्ति मान ली जावे तो चाण्डाली तथा धीवरी आदिकी स्त्रियां क्योंकर मोक्षमें नहीं जाती? क्योंकि वे भी तो स्त्रियां ही हैं

न ? तथा स्त्रियोंके योनिस्थानमें प्रमत्तादिसे निरन्तर अशुद्धता बनी रहती है और महीने२ में निंद्यनीय रजोधर्म होता रहता है। स्तन कुक्षि तथा योनि आदि स्थानोंमें शरीर स्वभावसे ही सूक्ष्म अपर्याप्त मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं।

स्त्रियोंकी प्रकृति (स्वभाव) बुरी होती है। लिंग अत्यन्त ही निन्दित होता है, उनके साक्षात्संयम (महाव्रत) नहीं हो सकता तो मोक्ष तो बहुत दूर है। दूसरे स्त्री-लिंग तथा स्तनोंसे युक्त स्त्री रूपमें बनी हुई तीर्थंकरोंकी प्रतिमायें कहीं हो तो कहो! इन दोषोंसे स्त्रियोंको मोक्षकी सम्भावना नहीं मानी जा सकती।

देखो! स्त्रियोंको चक्रवर्ति, नारायण, बलभद्र, मण्डलेश्वर आदि पद तथा श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान जब नहीं होते हैं और उसी तरह गणधर, आचार्य, उपाध्याय आदि पद भी नहीं होते हैं तो उन्हींके त्रैलोक्य महनीय सर्वज्ञपनेका कैसे सद्भाव माना जाय? इसलिये समझो कि—सुकुलमें पैदा हुआ, कुशल, संयमी, परिग्रह रहित तथा इन्द्रियोंका जीतनेवाला पुरुष ही मुक्ति कान्ताके साथ परिणय कर सकता है॥ ९०-९४॥

—इति स्त्रीमुक्तिनिराकरणम्।

जो मूर्ख लोग निर्ग्रन्थ मार्गके विना परिग्रहके सद्भावमें भी मनुष्योंको मोक्षका प्राप्त होना बताते हैं उनका कहना प्रमाणभूत नहीं हो सकता। यदि परिग्रहके होने पर मोक्षका

होना ठीक मान लिया जावे तो कहो कि भगवान आदि जिनेन्द्रने अपना प्रशस्त राज्य किसलिये छोड़ा ? उत्तम कुलमें समुद्भव, महाविद्वान तथा वज्रवृषभ-नाराच-संहननका धारक पुरुष भी यदि परिग्रही हो तो वह भी मोक्षमें नहीं जा सकता तो औरोंकी क्या कहे ? इसलिये शिव–सुखाभिलाषी साधुओंको–वस्त्र, कम्बल, दंड तथा पात्रादि उपकरण कभी नहीं ग्रहण करने चाहिये। क्योंकि वस्त्रोंके ग्रहण करनेसे उनमें लीखें तथा जूं आदि जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है और उनके धरने उठाने तथा धोनेमें जीवोंकी हिंसा होती है। दूसरे, वस्त्रके लिये प्रार्थना करनेसे दीनता आती है और वस्त्र प्राप्त होने पर उसमें मोह बढ़ता है, मोहसे संयमका नाश होता है तो उसमें निर्मलता होना तो दुर्लभ ही नहीं किंतु नितांत असम्भव है। इसलिये अंतरंग तथा बाह्य परिग्रहके त्यागयुक्त साक्षाज्जिनलिङ्ग ही श्लाघनीय है। और सम्यक्त्वयुक्त जीवोंके शिव–सुखका हेतु है॥ ९५–१०१॥

कदाचित यह कहो कि–जिनकल्प लिङ्गके बहुत कठिन तथा दुःसाध्य होनेसे हम लोगोंने स्थविर कल्प संयम धारण किया है। परंतु जिनकल्प तथा स्थविरकल्पका लक्षण जब तक न समझ लो तबतक ऐसे मिथ्या वचन भी मत कहो। क्योंकि स्थविर कल्प भी तुम्हारे कथनानुसार परिग्रह सहित नहीं होता है।

अब पहले ही जिनकल्प संयमका लक्षण कहा जाता है- जिसके द्वारा मुनिराज मुक्त्यङ्गनाके आलिङ्गनके सुखका उपभोग कर सकते हैं, जो सम्यक्त्व रूप रत्नसे भूषित होते हैं, जिन्होंने इन्द्रियरूप अश्वोंको अपने वशमें कर लिये हैं, जो एकाक्षरके समान एकादशाङ्ग शास्त्रके जाननेवाले हैं, जो पांवोंमे लगे हुये कांटेको तथा लोचनोंमें गिरी हुई रजको न तो स्वयं निकालते हैं और न दूसरोंसे कहते हैं कि तुम निकाल दो, निरन्तर मौन सहित रहते हैं, वज्रवृषभ नाराच संहननके धारक होते हैं, गिरिकी गुहाओंमे, वनमें, पर्वतमें तथा नदियोंके किनारोंमें रहते हैं, वर्षाकालमें मार्गको जीवोंसे पूर्ण हो जाने पर छह मास पर्यन्त आहार रहित होकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं, परिग्रह रहित होते हैं, रत्नत्रयसे विभूषित होते हैं, मोक्षके साधनमें जिनकी निष्ठा होती है, धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान दोमें निरत रहते हैं, जिनके स्थानका कोई निश्चय नहीं होता तथा जो जिन भगवानके समान विहार करनेवाले होते हैं ऐसे साधुओंको जिन भगवानने जिनकल्पी साधु कहा है ॥ १०२-१० ॥

और जो जिनलिङ्गके धारक होते हैं, निर्मल सम्यक्त्वरूप अमृतसे जिनका हृदय क्षालित होता है, अट्ठाईस मूलगुणोंके धारण करनेवाले होते हैं, ध्यान तथा अध्ययनमें ही निरत रहते हैं, पञ्च महाव्रतके धारक होते हैं, दर्शनाचार प्रभृति पञ्चाचारके पालन करनेवाले होते हैं, उत्तम क्षमादि दश धर्मसे विभूषित

रहते हैं, जिनकी ब्रह्मचर्य व्रतमें निष्ठा (श्रद्धा) होती है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे विरक्त होते हैं, तृणमें मणिमें नगरमें वनमें मित्रमें शत्रुमें सुख तथा दुःखमें सतत् समान भावके रखनेवाले होते हैं, मोह अभिमान तथा उन्मत्तता रहित होते हैं। धर्मोपदेशके समय तो बोलते हैं और शेष समयमें सदैव मौन रहते हैं, शास्त्ररूपी अपार पारावारके पारको प्राप्त हो चुके हैं उनमें कितने तो अवधिज्ञानके धारक होते हैं, कितने मनःपर्ययज्ञानके धारक होते हैं अवधिज्ञानके पहले पंचसूत्रको सुंदर पिच्छी प्रतिलेखनके (शोधनके) लिये धारण करते हैं, सङ्घके साथ २ विहार करते हैं, धर्म प्रभावना तथा उत्तम २ शिष्योंका रक्षण करते हैं, और वृद्ध २ साधु-समूहके रक्षण तथा पोषणमें सावधान रहते हैं। इसीलिये उन्हें महर्षि लोग स्थविर कल्पी कहते हैं। इस भीषण कलिकालमें हीन संहननके होनेसे वे लोग स्थानीय नगर ग्रामादिके जिनालयमें रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है, शरीरका संहनन हीन है, मन अत्यंत चंचल है और मिथ्या मत सारे संसारमें विस्तीर्ण होगया है तोभी वे लोग संयमके पालन करनेमें तत्पर रहते हैं॥ ११९-२०॥

[दूसरे ग्रंथमें भी कलियुगके बाबत यों लिखा है-"जो कर्म पूर्वकालमें हजार वर्षमें नाश किये जा सकते हैं, कलियुगमें एक वर्षमें भी नहीं किये जा सकते" यह तो हुआ गाथाके अक्षरोंका अर्थ। परंतु यह गाथा बिल्कुल अशुद्ध है। हमारे पास दो

प्रतियां थीं उन दोनोंमें ऐसा ही पाठ होनेसे परवश यही पाठ छपवाना पड़ा। वास्तवमें ऐसा अर्थ होना चाहिये—"जो कर्म पूर्व कालमें एक वर्षमे नाश कर दिये जाते थे उतने ही कर्म इस कलियुगमें हजार वर्षमें भी नाश नहीं किये जा सकते।]

इसीसे मोक्षाभिलाषी साधु लोग संयमियोंके योग्य पवित्र तथा सावद्य (आरम्भ) रहित पुस्तकादि ग्रहण करते हैं। इस-प्रकार सर्व परिग्रहादि रहित स्थविर कल्प कहा जाता है। और जो यह वस्त्रादिका धारण करना है वह स्थविर कल्प नहीं है किन्तु गृहस्थ कल्प है। मैं तो यह समझता हूं कि—इन श्वेतांबरियोंने जो यह गृहस्थ कल्पना की है वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये नहीं किंतु इन्द्रिय संबंधी विषयानुभवन करनेके लिये की है॥ १२१-२४॥

तथा देखो! इन लोगोंकी मूर्खता अथवा विवेक शून्यता जो श्री वर्द्धमान स्वामीके गर्भका अपहरण हुआ कहते हैं। जब श्री वीरजिनेन्द्रको—वृषभदत्त ब्राह्मणकी देवानन्दा नाम स्त्रीके गर्भमें आये हुये तिरासी ८३ दिन बीत गये तब इन्द्रने भिक्षु-कका कुल समझ कर श्री वीरनाथका गर्भ वहांसे लेजाकर सिद्धार्थ राजाकी कांताके उदरमें स्थापित किया। परंतु यह बात कैसे हो सकती है? अस्तु, हमारा कहना है कि—पहले तुम यह कहो—इन्द्रने पहले उस कुलको जाना था या नहीं?

यदि कहोगे जाना था तो पहिले ही गर्भका हरण क्यों न किया ? यदि कहोगे नहीं जाना था तो गर्भ शोधनादि क्रियायें कैसे की होंगी ? यदि फिर भी कहोगे कि गर्भ शोधनादि क्रियायें ही नहीं की गई तो तुम्हीं कहो फिर तीर्थंकरों तथा और सामान्य मनुष्योंमें विशेषता ही क्या रही ? दूसरे यह भी है कि जब द्विजके यहांसे गर्भ हरण किया गया तो उसका नालका तो छेद वहीं पर हो गया फिर छिन्ननाल गर्भ दूसरी जगहँ क्यों बढ़ सकता है ? जैसे जिस फलका बंधन एक जगहँ छिन्न होजाता है फिर वह दूसरी जगह नहीं बढ़ सकता। किंतु उसी समय नष्ट होजाता है। कदाचित कहो कि—जैसे वल्लरी दूसरी जगहँ भी रोपी हुई वृद्धिको प्राप्त होती है तो गर्भ क्योंकर नहीं बढ़ सकता ? परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है।

क्योंकि लता तो माताके समान होती है और सुत फलके समान होता है। कदाचित फिर भी कहो कि माताके संबंधसे गर्भ दूसरी जगह रख दिया गया तो गर्भका क्या बिगड़ा ? तो कुछ नहीं परन्तु यही दुःख होता है कि तुम्हारे सदोष वचन विचारे सत्पुरुषोंको सन्ताप उत्पन्न करते हैं। इसी तरहसे श्वेतांबरी लोग नानाप्रकारके मिथ्या वचनोंसे शास्त्रोंकी कल्पना करते हैं और विचारे मूर्ख लोगोंको संशयमें डालते हैं। इनके कुछ दिनों बाद यही मत शांसयिक कहलाने लगा। इसी प्रकार

अपने कपोल-कल्पित मार्गमें वे दुराग्रही लोग रहते हैं ॥ १२५-३४ ॥

इन्हींके भक्त जो लोकपाल तथा चित्रलेखा रानी थी, उनके सुवर्णकी तरह कान्तिकी धारक तथा अपने सुन्दर रूपसे देवांगनाओंको भी जीतनेवाली मनोहर लक्षणोंसे शोभित नृकुलदेवी नामकी बाला हुई। सो उसने उन गुरुओंके समीप अनेक शास्त्र पढ़े। और फिर क्रमसे वे युवा लोगोंको अत्यंत प्रिय मनोहर तरुण अवस्थाको प्राप्त हुई।

धनसे परिपूर्ण एक करहाटक नामका नगर है। अतिशय पराक्रमका धारक भूपाल नामका उसका राजा है। उसने उस सुन्दर शरीरकी धारक नृकुलदेवीके साथ अपना विवाह किया। नृकुलदेवी भी पूर्व पुण्यकर्मके उदयसे और सब रानियोंमें प्रधान पट्टरानी हुई और यह भूपाल भूपति भी उसके साथ नाना प्रकारके भोगोंको भोगने लगा। १३५-३९ ॥

किसी दिन अवसर सुअवसर पाकर स्वामीसे प्रार्थना की कि—प्राणप्रिय! मेरे पिताजीके नगरमें गुरु हैं, उन्हें धर्म-प्रभावनाके लिये आप भक्तिपूर्वक बुलाईये। राजाने रानीके वचन सुनकर उसी समय अपने बुद्धिसागर मंत्रीको बुलाया और उन्हें सत्कार पूर्वक लानेके लिये उसे करहाटाक्षपुर भेजा। मंत्री भी उनके पास गया और अत्यंत बिनयपूर्वक नमस्कार कर

तथा बार२ प्रार्थना कर उन्हें अपने पुरमें लिवा लाया। राजाने जब उनका आगमन सुना तो बहुत आनंदित हुआ और बड़े भारी आनंदपूर्वक उनकी वंदना करनेके लिये चला। परंतु दूरमे ही जब उन्हें देखे तो आश्चर्ययुक्त हो विचारने लगा—

अहो! निग्रन्थता रहित यह दण्ड पात्रादि सहित नवीन मत कौन है? इनके पास मेरा जाना योग्य नहीं है। ऐसा कहकर उसी समय वहांसे अपने महलको और लौट गया और जाकर अपनी कांतासे कहा—खोटे मार्गके चलानेवाले, जिन भगवानके शासन-विरुद्ध मतके धारण करनेवाले तथा परिग्रह रूप पिशाचके वशवर्त्ति ये ही तुम्हारे गुरु हैं? मैं उन्हें कभी नहीं मानूंगा! वह राजाका आशय समझकर उसी समय गुरुके पास गई और विनय विनीत मस्तकसे नमस्कार कर प्रार्थना करने लगी॥ १४०-१४८॥

भगवन! मेरे आग्रहसे आप सब परिग्रह छोड़कर पहले ग्रहण की हुई देवताओंसे पूजनीय तथा पवित्र निर्ग्रंथ अवस्था ग्रहण कीजिये। उन सब श्वेतांबर साधुओंने रानीके वचन सुनकर उसी समय वस्त्रादि सब परिग्रह छोड़ दिया। और हाथमें कमण्डलु तथा पीछी लेकर जिन भगवानकी दिगम्बरी दीक्षा अङ्गीकार की। फिर राजा भी उनके सन्मुख गया और अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अपने नगरमें उन्हें लिवा लाया॥ १४९-१५२॥

उस समय राजादिके द्वारा सत्कार किये हुये तथा पूजे हुये वे साधु लोग दिगम्बरका वेष धारण कर श्वेतांबर मतके अनुसार आचरण करने लगे ॥ १५३–५६ ॥

गुरोपदेशके विना नटके समान उपशमका कारण लिङ्ग धारण किया। और फिर कितने दिनों बाद इन्हीं कुमार्गियोंमें यापनीय संघ निकला।

फिर इसी मिथ्यात्व मोहसे मलीन श्वेतांबर मतसे, शुभ कार्यसे परांगमुख कितने ही मत प्रचलित हो गये। उनमें कितने तो अहङ्कारके वशसे, कितने अपने आप आचरण धारण करनेसे, कितने अपने२ आश्रयके भेदसे तथा कितने खोटे कर्मके उदयसे निकले। इसी तरह अनेक मतोंका समाविर्भाव हो गया।

और भी सुनो—

महाराज विक्रमकी मृत्युके १५२७ वर्ष बाद धर्म कर्मका सर्वथा नाश करनेवाला एक लुंकामत (ढूंढियामत) प्रगट हुआ, उसकी विशेष व्यवस्था यों है—

अपनी अलौकिक विद्वत्तासे देवताओंको भी पराजित करनेवाले गुजर (गुजरात) देशमें अणहल नाम नगर है। उसमें प्राग्वाट (कुनम्बी) कुलमें लुङ्का नामका धारक एक श्वेताबरी हुआ है। उस दुष्टात्माने कुपित होकर तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे खोटे परिणामोंके द्वारा लुंकामत चलाया, और जिन सूत्रसे

प्रतिकूल होकर देवताओंमें भी पूजनीय जिन प्रतिमा, उनकी पूजा तथा पवित्र दानादि सब कर्म उठा दिये ॥१५७-६१॥

उस मतमें भी कलिकालका बल पाकर अनेक भेद होगये सो ठीक है, दुष्ट लोग क्या २ नहीं करते हैं ? अहो ! देखो ! मोहरूप अन्धकारमें वे लोग स्वयं भी आच्छादित हुये और इन्हीं पापी लोगोंने जिन भगवानका निर्मल शासन भी कलंकित किया, परन्तु सुखाभिलाषी बुद्धिमानोंको उस कुत्सितमतमें प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् इसे ग्रहण नहीं करना चाहिये किंतु उन्हें अपना ही मत ग्रहण करना उचित है। क्योंकि कर्दमसे (कीचड़से) लिप्त महामणिको कौन ग्रहण नहीं करता है ? किंतु सभी करते हैं। अरे ! निःशक्त (व्रत तथा सम्यक्त्व रहित) पुरुषोंके दोषसे क्या धर्म भी कभी मलीन हो सक्ता है ? किंतु नहीं हो सकता है। सो ठीक है—मेंढकके मरनेसे समुद्र कहीं दुर्गन्धित नहीं होता। इसी तरह सब मतोंमें सार देखकर सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अपनी बुद्धि सर्वज्ञ भगवानके दिखाये हुये मार्गमें लगानी चाहिये ॥१६२-६६॥

अब उपसंहार करते हुये आचार्य कहते हैं कि जो वस्त्र रहित होकर भी सुंदर है, अलंकारादि विहीन होकर भी देदीप्यमान है तथा जो क्षुधा तृषादि अठारह दोषोंसे रहित है वही तो वास्तवमें देव कहलाने योग्य है और शेष क्षुधादि सहित कभी देव नहीं कहे जा सकते ॥१६७॥

उसी जिन भगवानके मुख-चंद्रसे विनिर्गत स्याद्वादरूप अमृतसे पूरित तथा परस्पर विरुद्धता रहित जो शास्त्र है वही तो शास्त्र है और दूसरे लोगोंके द्वारा कहा हुआ शास्त्र नहीं हो सकता ॥१६८॥

और जो नाना प्रकारके ग्रन्थ (शास्त्र) सहित होकर भी निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित हैं तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयसे विराजित हैं वे ही यथार्थमें गुरु हो सकते ॥१६९॥

इसलिये बुद्धिमानोंको दूसरी ओरसे बुद्धि हटाकर सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धानमें उसे लगानी उचित है। और सप्त तत्त्वोंका निश्चय करके उत्तम सम्यक्त्व स्वीकार करना चाहिये ॥१७०॥

अंतमें ग्रंथकार कहते हैं कि श्रेणिक महाराजके प्रश्नके उत्तरमें जैसा श्री वीर जिनेन्द्रने भद्रबाहु चरित्रका वर्णन किया था उसी तरह जिन शास्त्रके द्वारा समझकर मैंने भी श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवलीका चरित्र लिखा है ॥१७१॥

जिसका अवतार स्वर्ग समान मनोहर कोटपुरमें हुआ है, जो सोमशर्म तथा श्रीमती सोमश्रीका अनेक गुणोंका धारक पुत्र-रत्न है, जिसने गोवर्द्धनाचार्य सरीखे महात्माका आश्रय लेकर निर्मलज्ञान रूपी रत्नाकर तिर लिया है वे श्री भद्रबाहु महर्षि मेरे हृदयमें प्रकाश करें।

जो स्नेह (राग) का नाश कर देनेसे यद्यपि आभरणादिसे विरहित है तो भी बहुत सुंदर है, जो वेदनीय कर्मके अभाव हो जानेसे यद्यपि निराहार है तोभी निरंतर संतुष्ट है, जो कामरूप प्रचण्ड हाथीका नाश करनेके लिये केशरी गिना जाता है और जो इन्द्रिय रूप काननके जलानेके लिये वह्नि कहा जाता है इसी लिये कि—वे मुझे मनोभिलषित सुख वितीर्ण करें।

सम्यग्दर्शन जिसका मूल कहा जाता है, जो श्रुत सलिलसे अभिसिंचित किया गया है, उत्तम चारित्रका ग्रहण जिसकी शाखायें मानी जाती हैं, जो सुंदर २ गुणोंसे विराजित है, और जिसमें इच्छानुसार फल प्रदान करनेकी अचिन्त्य प्रभुत्वता है तो फिर आप लोग उसी धर्म रूप मन्दारतरुका क्यों न आश्रय करें ?

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।

जो प्रतिवादी रूप गजराजके मदका प्रमर्दन करनेके लिये केशरीकी उपमासे विराजित हैं, जिन्हें शील-पीयूषका जलधि कहते हैं और जिसने उज्वल कीर्तिसुंदरीका आलिंगन किया है, उन्हीं अनंतकीर्ति आचार्यके विनय और अपने शिक्षा-गुरु श्री ललितकीर्त्ति मुनिराजका ध्यान करके मैंने इस निर्दोष चरित्रका संकलन किया है।

॥ ॐ ॥

श्रीभद्रबाहुचरित्रम् ।

सद्बोधभानुना भित्त्वा जनानामन्तरं तमः ।
यः सन्मतित्वमापन्नः सन्मतिं सन्मतिः क्रियात् ॥ १ ॥

वृषभं वृषभं वंदे वृषभाङ्कं वृषाऽर्चितम् ।
वृषतीर्थप्रणेतारं भेत्तारं कर्मविद्विषाम् ॥ २ ॥

परमेष्ठिपदासीनं परमेष्ठिपदाप्तये ।
परमेष्ठिपदो वन्दे सत्पञ्चपरमेष्ठिनाम् ॥ ३ ॥

आर्हती भारती पूज्या लोकाऽलोकप्रदीपिका ।
रजो विधूय नो नित्यं तनोतु विमलां मतिम् ॥ ४ ॥

स्वेष्टार्थसिद्धिकरणाश्चरणाः सन्तु गौरवाः ।
गौरवाप्ताः सुचरणास्तरणे मे भवाऽम्बुधौ ॥ ५ ॥

शक्त्या हीनोऽपि वक्ष्येऽहं गुरुभक्त्या प्रणोदितः ।
श्रीभद्रबाहुचरितं यथा ज्ञातं गुरूक्तितः ॥ ६ ॥

यच्छ्रुतं मुग्धबुद्धीनां मिथ्यामोहमहातमः ।
धुनुते तनुते शुद्धां जैनमार्गेऽमलां मतिम् ॥ ७ ॥

अथाऽत्र भारते वर्षे विषयते मगधाऽभिधे ।
पुरं राजगृहं भाति पुरन्दरपुरोपमम् ॥ ८ ॥

नताऽशेषनृपश्रेणिः श्रेणिकः श्रेयसां निधिः ।
भावुकः पालकस्तस्य चेलनी महिषीशिवा ॥ ९ ॥

एकदाऽसौ विशांनाथो विदित्वा वनपालतः ।
विपुलाऽद्रौ महावीरमसवसृतिमागताम् ॥ १० ॥

परानन्दथुमापन्नोऽचलद्देवं विवन्दिषुः ।
तौर्यत्रिकवराववर्धिरीकृतदिङ्मुखम् ॥ ११ ॥

वीक्ष्य मुखमंमच्छं केवलोज्वलशोभितम् ।
स्तुत्वा नत्वा समभ्यर्च्य तस्थिवान्नरसंसदि ॥ १२ ॥

श्रुत्वा धर्मं जिनोद्गीतमथावोचच्छ्रद्धान्वितः ।
प्रणिपत्य—ततोऽप्राक्षीत् करौ मुकुलयन्नृपः ॥ १३ ॥

देवाऽत्र दुःषमे काले केवलश्रुतधारकाः ।
कियन्तोऽग्रे भविष्यन्ति किं किं चान्ते भविष्यति ॥ १४ ॥

श्रुत्वा तदीयं व्याहारं व्याजहार गिराम्पतिः ।
गम्भीरध्वननिर्घोषैर्मोदयन् भव्यकेकिनः ॥ १५ ॥

मयिमुक्तिमिते राजन् ! गौतमाख्यः स्वधर्मवाक् ।
जम्बूनामा भविष्यन्ति त्रयोऽमी केवलेक्षणाः ॥ १६ ॥

विश्वश्रुतविदो विष्णुः नंदिमित्रोऽपराजितः
तुर्यो गोवर्द्धनो भद्रो भद्रबाहुस्तथाऽन्तिमः ॥ १७ ॥

श्रुतकेवलिसीमानः पञ्चैतेऽत्र महर्षयः ।
बोधो धर्मो धनं सौख्यं कलौ हीनत्वमेष्यति ॥ १८ ॥ युग्मम् ।

भद्रबाहुभवं वृत्तं श्रेणिकाऽतो निशम्यताम् ।
यच्छ्रुतेऽन्यमतोत्पत्तिर्बुद्ध्यते मुग्धमानसैः ॥ १९ ॥

श्रेणिकेन यथाऽश्रावि श्रीवीरमुखनिर्गतम् ।
तथाऽहमधुना वच्मि समासेन गुरूक्तितः ॥ २० ॥
जम्बूद्वीपोऽस्य विख्यात आद्योऽनादिरपीरितः ।
कुलभूधरसंसेव्यो नृपो वा विपुलश्रिया ॥ २१ ॥
तद्रिव भालवद्भाति भारतं क्षेत्रमुत्तमम् ।
तत्रास्यपवरचम्पा देशोऽभत्पौण्ड्रवर्द्धनः ॥ २२ ॥
धनधान्यजनाकीर्णा गोमंडलविमंडिताः ।
ग्रामा यत्र नृपायन्ते महिषीकुलसंकुलाः ॥ २३ ॥
तरवो विहितच्छायाः संश्रितानां पृथुश्रियः ।
श्रद्धायन्ते नगा यत्र क्षमाधाराः सुदर्शनाः ॥ २४ ॥
नदीमातृकसद्देवमातृकक्षेत्रमंडिताः ।
शिरामणीयते यत्र स्वेष्टशस्य सदा मही ॥ २५ ॥
सरस्यो यत्र राजन्ते मल्लिवारिजलोचनैः ।
पंसां प्रमोदकारिण्यो द्विजराजिविराजिताः ॥२६॥
प्रसन्ना दर्शनीयाऽङ्गा पगावधा मुदान्विताः ।
यदीयां सुषमां द्रष्टुं कुतुकाद्वा विजृम्भिताः ॥२७॥ युग्मम् ।

प्रसूनिर्गन्धे मिथ्याख्या जम्बुके वञ्चकध्वनिः
बन्धो गले छन्दः छेदो यत्र भङ्गस्तरङ्गके ॥२८॥
चापल्यं तु कपौ नक्तं कोके शोको मदो द्विपे ।
कौटिल्यं स्त्रीभ्रुवोर्दस्मात्ततोऽसौ निरुपद्रवः ॥२९॥ युग्मम् ।

तत्र कोट्टपुरं रम्यं द्योततेनाकखण्डवत् ।
आगाधोत्तुङ्गसाट्टालः खातिकाशालगोपुरैः ॥ ३० ॥

प्रोत्तुंगशिखरा यत्राऽऽबभुः प्रासादपंक्तयः
कलङ्कं वा विधोर्लोप्तुं केतुहस्तैः समुद्यताः ॥ ३१ ॥

नानानेकमहानर्घ्यमणिमाणिक्यमंडिते ।
कनत्कनककुम्भोरुप्रसरत्किरणोत्करैः ॥ ३२ ॥

विचित्रसिचयोल्लोचश्रियं चक्रुर्नभोऽङ्गणे ।
विशदाः पुण्यपिण्डाभा भव्यसेव्या जिनालयाः ॥३३॥ युग्मम्

यत्रत्यास्त्यागिनो लोकाः सदया अपि निर्दयम् ।
दुर्गन्धि धनपस्यापि समर्था निरन्तरम् ॥ ३४ ॥

चित्तं येषां जिनेन्द्राग्रे वित्तं येषां नृपेऽर्हतः ।
मति येषां सुपात्रादौ श्रुतिर्येषां जिनोदिते ॥ ३५ ॥

स्तुतिर्येषां गुणिष्वेव नतिर्येषां जिनक्रमे ।
तत्रत्यास्तेऽभिरम्या लोका रेजिरे धर्मवर्त्तनात् ॥ ३६ ॥

तत्र चाभायते भूपः ख्यातो नरवर्माभिधः ।
करदीकृताशेषभूपालो निजतेजसा ॥ ३७ ॥

स्वप्रजावत्प्रजालोकी शक्तित्रयविराजितः ।
जितान्तरारिषड्वर्गो यः सन्मार्गे समुद्यमी ॥ ३८ ॥

बभूव तन्महादेवी पद्मश्रीः श्रीरिवाऽपरा ।
पुरोधा सोमशर्माह्व आसीत्तस्य महीक्षितः ॥ ३९ ॥

विवेकी विशदस्वान्तो वेदविद्याविशारदः ।
न चंद्रो द्विज राजोऽपि न चापि गरुडो यकः ॥ ४० ॥

सती मतल्लिका नाम्ना सोमश्रीस्तत्प्रियाऽभवत ।
चन्द्रानना विशालाक्षी रूपापास्तसुराङ्गना ॥ ४१ ॥

भानोर्विभेव चंद्रस्य चंद्रिकेव दया यतेः ।
शीखा दीपस्य वा सक्ता तस्याऽऽसीत्सा सुलक्षणा ॥ ४२

कामं रंरम्यमाणोऽसौ कांतया कांतया समम् ।
अनीनयत्सुखं कालं प्रीत्या रत्या यथा स्मरः ॥ ४३ ॥

पुण्यात्प्रासूत सा तन्वी पुण्यलक्षणलक्षितम् ।
तनूजं स्मरसंकाशं सुबोधं वा सती सतिः ॥ ४४ ॥

शुभे शुभग्रहे लग्ने शुभे तातस्तदा मुदा ।
वित्तं विश्राणयामास याचकेभ्यो यथेप्सितम् ॥ ४५ ॥

कामिनीकलगानोरुनृत्यदुन्दुभिवादनैः ।
तस्य जन्मोत्सवं चक्रे केतुमाला वलम्बनैः ॥ ४६ ॥

तज्जन्मतो जनाः सर्वे सुप्रमोदं प्रपेदिरे ।
सूर्यो दयादिवाऽब्जानि चकोरा वा विधूदयात् ॥ ४७ ॥

भद्रङ्करो भद्रमूर्त्तिर्बालोऽसौ भद्रमानस :
भद्रबाहुरितिख्याति प्राप्तवान्बन्धुवर्गतः ॥ ४८ ॥

सोऽर्भकः सुन्दराकारो लालितो ललिताजनैः ।
कदाचित्स स्थितो सद्मां करात्करतलेचरन् ॥ ४९ ॥

दिने दिने तदा बालो ववृधे सद्गुणैः समम् ।
कलानिधिः कलाभिर्वा जगदानंददायकः ।। ५० ।।

सौभाग्यधैर्यगाम्भीर्यरूपरंजितभूतलः ।
क्रमात्कुमारतामाप्य रेजेऽमरकुमारवत् ।। ५१ ।।

भद्रबाहुकुमारोऽसौ सवयोभिरमा मुदा ।
कलाविज्ञानपारीणो रममाणोऽवतिष्ठते ।। ५२ ।।

एकदा दिव्यता तेन कुमारैर्बहुभिः समम् ।
दिव्यकोट्टपुरस्यान्ते स्वेच्छया वट्टकैरलम् ।। ५३ ।।

एकैकोपरि विन्यस्ता वट्टकास्तु त्रयोदश ।
स्वकौशल्याद्धृतं तेषु निपपात चतुर्दश ।। ५४ ।।

तदा गुणगणैः पूर्णो गोवर्द्धनगणाधिपः ।
मण्डितो मुनिमण्डल्या विधुस्तारागणैरिव ।। ५५ ।।

विमलं कुर्वन् विश्वामः सद्बोधेन्दुकरोत्करैः ।
प्रोल्लसत्पृथुचारित्रचंचच्चारुविभूषणः ।। ५६ ।।

चिकीर्षुर्नेमितीर्थेशयात्रां रैवतकाचले ।
विहरन्क्वापि पूतात्मा कोट्टपुरमवाप सः ।। ५७ ।।

तत्पुराऽभ्यर्णमायातं वीक्ष्य दिग्वाससं व्रजम् ।
अपीपलन्कुमारास्ते क्रीडन्तस्त्रस्तचेतसः ।। ५८ ।।

तेषां मध्ये सुधीरेको भद्रबाहुकुमारकः ।
तस्थिवस्तित्र शुद्धात्मा विवेकी हृष्टमानसः ।। ५९ ।।

तं कुमारं त्रिलोक्याऽसौ गोवर्द्धनगणाधिपः ।
उपर्युपरि कुर्वाणं चन्द्रकांताश्चतुर्दश ॥ ६० ॥
स्वस्वान्तेचिन्तयामास निमित्तज्ञः श्रुतान्तगः ।
इत्युक्तं वीरदेवेन पुरा केवलचक्षुषा ॥ ६१ ॥
महातपा महातेजा बोधारम्भोनिधिपारगः ।
भव्याम्बोरुहचण्डांशुर्भद्रबाहुर्भविष्यति ॥ ६२ ॥

निमित्तलक्षणः सोऽयं समुत्पन्नोवबुध्यते ।
इति निश्चित्य योगीन्द्रः कुमारं तं वचोवऽदत् ॥ ६३ ॥
दन्तालिचंद्रिकाद्योतप्रद्योतितदिगन्तरः ।
भो कुमार ! महाभाग ! किं नामा किं कुलस्त्वकम् ॥ ६४

किं पुत्रा वद वाक्यं सां निशम्येति वचोवरम् ।
नामं नामं गुरोः पादौ प्रोवाच प्रश्रयन्वितः ॥ ६५ ॥
भद्रबाहुरहं नाम्ना भगवन् ! द्विजवंशजः
सोमश्रियां समुद्भूतः सोमशर्मापुरोधसः ॥ ६६ ॥
जगाद तं ततो योगी महाभागः निदृशय ।
तावकीयं निशान्तं मे श्रुत्वाऽसौ हृष्टमानसः ॥ ६७ ॥
अनीनयन्निजं गेहं विनयानतमस्तकः ।
तदीयौ पितरौ वीक्ष्याऽऽगच्छन्तं तं महामुनिम् ॥ ६८ ॥
प्रफुल्लवदनौ क्षिप्रं मुदा समुदतिष्ठताम् ।
विधाय विनयं भक्त्या प्रादात्ये वरविष्टरम् ॥ ६९ ॥

उपाविशन्मुनिस्तत्रोदयाद्रौ वा दिवाकरः ।
सजातिः सोमशर्माऽतो व्याचष्टे विहिताञ्जलिः ॥ ७० ॥

सनाथो नाथ ! जातोऽद्य त्वत्पादाम्भोजवीक्षणात् ।
मामकं ममभूदद्य पूतं गेहं त्वदागतेः ॥ ७१ ॥
विभो ! मयि कृपां कृत्वा कृत्यं किञ्चिन्निरूप्यताम् ।
व्याजहार ततो योगी गिरा प्रस्तुष्टमिष्टया । ७२ ॥

भवदीयाऽऽत्मजो भद्र ! भद्रबाहुसमाह्वयः ।
भविताऽयं महाभाग्यो विश्वविद्याविशारदः ॥ ७३ ॥
ततो मे दीयतामेषो ध्यायमास महादरात् ।
शास्त्राणि सकलान्येनं पाठयामि यथाचिरात् ॥ ७४ ॥

गुरुव्याहारमाकर्ण्य बभाण सप्रियो द्विजः ।
महानंदथुमापन्नो मुकुलीकृत्य सत्करौ ॥ ७५ ॥
योऽस्माकोऽयं सुतो देव ! किमत्र परिपृच्छ्यते ।
पाठयंतु कृपां कृत्वा शास्त्राण्येनमनेकशः ॥ ७६ ॥
इति तद्वाक्यतो नीत्वा कुमारं स्थानमात्मनः ।
शब्दागमहितव्यतर्कादिशास्त्राण्यध्यापयद्भृशम् ॥ ७७ ॥
गुरूपदेशात्सोऽज्ञासीच्छास्त्राणि सूक्ष्मधीरपि ।
सूक्ष्मेक्षणापि किं दीपं विना वस्तु विलोकयते ॥ ७८ ॥
मद्बुद्धिनावमास्थाय गुरुणाविकृतोदिताम् ।
विनयानिलयोऽगात्स शास्त्राऽब्धेः पारमाप्तवान् ॥ ७९ ॥

ततो विज्ञापयामास प्रफुल्लऽऽननीरजः ।
कुड्मलीकृत्य हस्ताब्जौ गरीयांसं गुणगुरुम् ॥ ८० ॥

प्रभो ! प्रभुप्रसादेन विद्या लब्धा मयाऽमला ।
जन्मदेभ्योऽपि पितृभ्यो भृशं त्वमुपकारकः ॥ ८१ ॥

पितरः प्राणिभिर्लभ्या नूनं जन्मनि जन्मनि ।
अभीष्टफलदाऽभ्यर्च्या मद्विद्या दुर्लभा जनैः ॥ ८२ ॥

आज्ञापयति चेद्देवस्तर्हि यामि निजालयम् ।
निगद्येति गुरोराज्ञामादाय स कृतज्ञकः ॥ ८३ ॥

नामं नामं गणाधीशपादाम्बुजयुगं मुदा ।
हितोपदेष्टा मातेव बालस्य नित्यशो गुरुः ॥ ८४ ॥

इत्यादितद्गुणांश्चित्ते कुर्वन्सम्यक्त्वभूषणः ।
आजगाम निजागारं सन्तो हि गुणरागिणः ॥ ८५ ॥

रूपयौवनसम्पन्नं हृद्यविद्याविभासुरम् ।
पितरौ स्वात्मजं वीक्ष्य परमां मुदमापतुः ॥ ८६ ॥

नानन्दयति किं हेममुद्रिकाजटितो मणिः ।
पितरौ तं परिष्वज्य दोर्भ्यां सम्प्रीतचेतसौ ॥ ८७ ॥

क्षेमादिकं मिथः पृष्ट्वा तस्थिवान्स स्वसद्मनि ।
विद्याविनोदैर्बन्धूनामानन्दं जनयन्भृशम् ॥ ८८ ॥

तत्रासावन्यदा पद्मधरभूपतिसंसदम् ।
चिकीर्षुर्जिनधर्मस्योद्योतं लोके समासदत् ॥ ८९ ॥

अखर्वगर्वतुङ्गाद्रिशृङ्गारूढैर्महोद्धतैः ।
पण्डितैर्मण्डितां रम्यां वादविद्याविशारदैः ॥ ९० ॥
स्वगल्लझल्लरीजृम्भनिनादेन निजेच्छया ।
नर्त्तयद्भिर्महाविद्यानटीमुत्कम्पमानिताम् ॥ ९१ ॥
भद्रबाहुमहाभट्टं दृष्ट्वाऽऽयातं विशांपतिः ।
पुरोधसः सुतं ज्ञात्वा विश्वविद्याविचक्षणम् ॥ ९२ ॥

बहुसंमानदानाद्यैर्मनोज्ञैरासनादिभिः ।
दत्त्वाऽशीर्वचनं सोऽपि मध्येसभामुपाविशत् ॥ ९३ ॥
कुर्वंस्तत्र महावादं समं विप्रमदोद्धतैः ।
स्याद्वादकरवालेन सकलांस्तानजीजयत् ॥ ९४ ॥
विधूय वादिनां तेजो निजमाविश्चकार सः ।
महोदया विशुद्धात्मा चन्द्रादीनां यथा रविः ॥ ९५ ॥
प्रतिबोध्य महीपादींस्तत्र जैनप्रभावनाम् ।
अकार्षीन्नितरां धीमानात्मविद्याप्रभावतः ॥ ९६ ॥
गृहीतजिनमार्गेण भूभुजा तुष्टचेतसा ।
दत्तं बहुधनं तस्मै सीमासरणपूर्वकम् ॥ ९७ ॥
ततः स्वावासमापत्सौ नेदृग्वाग्मी कविर्भुवि ।
वादी चागमकः कोऽपि विज्ञानी विनयी परः ॥ ९८ ॥
इत्थं संवर्णितः ख्यातिं परामाप बुधोत्तमैः ।
एकदा पितरौ प्रोचे प्रश्रयान्मद्गिरा सुधीः ॥ ९९ ॥

भवभ्रमणभीतोऽहं मंजि घृक्षुस्ततोऽधुना ।
आज्ञापयन्ति चेन्नीत्या तर्हि गृह्णामि शर्मणे ॥ १०० ॥

भाषितं भाषितं ताभ्यां श्रुत्वेत्तद् दुःखदं तुजः ।
पुत्रेदं ते वचो वक्तुं न युक्तं निष्ठुरं कटु ॥ १०१ ॥

कुत्र पुत्र ! वपुस्ते दः कदलीगर्भवन्मृदु ।
काऽयं व्रतग्रहोऽसह्यो महतामपि दुर्द्धरः ॥ १०२ ॥

भुंक्ष्वाऽधुना सुखं बाल्ये पंचेन्द्रियसमुद्भवम् ।
गृहणीयं ततः सूनो ! वार्द्धक्ये विमलं तपः ॥ १०३ ॥

वचस्तदीयमाकर्ण्याब्रवीत्तातं सदाशयः ।
व्रतहीनं वृथा तात ! नार्यं निर्गन्धपुष्पवत् ॥ १०४ ॥

एकतो ग्रसते मृत्युरेकतो ग्रसते जरा ।
मोहिनां देहिनां देहं काऽऽशा तत्र महात्मनाम् ॥ १०५

वार्द्धिक्येऽयं ! पुनः प्राप्ते जरा जर्जरिताङ्गके ।
तात ! तृष्णास्पदे तत्र क तपो क जपो व्रतम् । १०६ ।

भोगास्तु भोगिभोगाभाः दुःखदाःसंतापकारकाः ।
आपातमधुराकारा विपाके तीव्रदुःखदाः ॥ १०७ ॥

संसारसागरेऽसार कुगतिक्षारजीवने ।
यातनानक्रसंकीर्णे शरण्यं धर्मसङ्गिनाम् ॥ १०८ ॥

मोमुहीति मुधा मूढो न चैतेषु विचक्षणः ।
ततोऽहं कं ग्रहीष्यामि संयमं शिवसाधनम् ॥ १०९ ॥

इत्यादिविविधैर्वाक्यैर्भद्रोऽसौ ममबृन्धन ।
पित्रादीन्निखिलान्बन्धून्महामोहनिबन्धनान् ॥ ११० ॥
ततो निर्देशतस्तेषां निर्वेदाहितमानसः ।
अयासीत्संयमं लिप्सुर्गोवर्द्धनगणाधिपम् ॥ १११ ॥

प्रणम्य प्रश्रयात्प्रोचे मूर्ध्नाऽस्मै विहिताञ्जलिः ।
देहि देवामलां दीक्षां कर्मनिर्मूलनिबर्हणाम् ॥ ११२ ॥
तद्वाक्याकर्णनाद्योगी समाश्वासे भाषितं स्वम् ।
विधेहि वत्स ! साफल्यं संयमेनात्मजन्मनः ॥ ११३ ॥
गुरोरनुग्रहात्सोऽपि प्राव्राजीत्परया मुदा ।
हित्वा सङ्गं द्विधा धीरो देहिदुःखनिबन्धनम् ॥ ११४

निर्दोषिवरवृत्ताढ्यो भासुरो लोकबान्धवः ।
निरम्बरपथस्थोऽपि रेजेऽसौ रविबिम्बवत् ॥ ११५ ॥
मुनिमूलगुणोदारमणिहारविराजितः ।
उद्यदयारमास्वादी प्रियपथ्यवचोऽवदत् ॥ ११६ ॥
गृह्णन् प्रत्तोपदेशं गीतिर् शीलशाले नियन्त्रयन् ।
दुर्वारमारमानङ्गं मूर्च्छां छिन्दन्परिग्रहे ॥ ११७ ॥
क्षेपयन्क्षणदाहारं स्वस्वस्पर्शादिनाशयः ।
सूत्रोक्तगमनालापाऽन्नं कुर्वन्विशुद्धधीः ॥ ११८ ॥
यथोक्तादाननिक्षेपलाघुञ्जनमाश्रयन् ।
जितपञ्चाक्षदुर्वाजी षडावश्यकमाचरन् ॥ ११९ ॥

विचेरलोचभूशय्यास्थानेषु स्थितिभोजने ।
अदन्तधावने चैकभुक्ते जितपरीषहः ॥ १२० ॥
गुरोरनुग्रहाद्धीमान् द्वादशाङ्गमपीपठत् ।
मोदयन्सकलं सङ्घं वहन्विनयमुल्बणम् ॥ १२१ ॥

पञ्चभिः कुलकम् ।

श्रुतसंपूर्णतामाप्तमिति संचिन्त्य भद्रदोः ।
श्रुतभक्त्या समादाय कायोत्सर्गेस्थितः प्रभो ॥ १२२ ॥
तदा सुरनराः सर्वे समभ्येत्यातिभक्तितः ।
चक्रुः पूजां प्रमोदेन भद्रबाहुमहामुनेः ॥ १२३ ॥

गाम्भीर्येण जिताम्भोधिः कान्त्या निर्जितशीतगुः ।
तेजसा जितसप्ताश्वो धैर्येण जितमन्दरः ॥ १२४ ॥
इत्यादिगुणमाणिक्यमालालङ्कारभासुरः ।
निःशेषजगदानन्ददायकः सूरिराबभौ ॥ १२५ ॥

गोवर्द्धनो गणी ज्ञात्वा समग्रगुणमागमम् ।
स्वपदे योजयामास भद्रबाहुं गणाग्रिमे ॥ १२६ ॥
भासयन्निजभाभारं महामोहतमो हरन् ।
शुशुभेऽसौ गुरोः स्थाने हेलिर्वा पूर्वभूधरे ॥ १२७ ॥

विख्यातो तुङ्गवंशे जननमुरुगुणं दोहनां देहमुद्धं
हृद्या विद्यानविद्या गुणगुरुगुरुपादारविन्देऽतिभक्तिः ।

गाम्भीर्योदार्यधैर्यप्रभृतिगुणगुणो वर्यवृत्तं प्रभुत्वं
श्रद्धा श्रीजैनमार्गे शशिकरविशदाऽनन्तकीर्तिः सुपुण्यात्॥ १२८॥

विमलबोधसुधाम्बुधिचंद्रकं
गुरुपदोदयभूधरभास्करम् ।
ललितकीर्त्तिमुदारगुणालयं
भजत भद्रभुजं मुनिनायकम् ॥ १२९ ॥

इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे आचार्यश्रीरत्ननन्दिविरचिते
भद्रबाहुश्रुतवर्णनो नाम प्रथम परिच्छेदः ॥१॥

द्वितीय परिच्छेदः

गणी गोवर्द्धनश्चाय विधाय विविधं तपः ।
प्रांते प्रायं समादाय चतुर्धाराधनारतः ॥ १ ॥

समाधिनाङ्गमुत्सृज्य प्रपेदे त्रिदशास्पदम् ।
देवदेवीगणैजुष्टं पुष्टं परमसम्पदा ॥ २ ॥

ततो गणाधिपो भद्रः पोषयन्सकलं गणम् ।
तोषयन्निखिलान्भव्यांदृप्यंस्तं वभौ ॥ ३ ॥

कुर्वन्कुवलयानन्दं किरन्धर्मामृतं भुवि ।
मुनितारागणाकीर्णः शशीव विजहार स ॥ ४ ॥

अवंतीविषयेऽत्राथ विजिताखिलमण्डले ।
विवेकविनवानेकधनधान्यादिसम्पदा ॥ ५ ॥
अभादुज्जयिनी नाम्ना पुरी प्राकारवेष्टिता ।
श्रीजिनागारमागारमुनिसद्धर्ममण्डिता ॥ ६ ॥

चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकृन्नृणाम् ।
चंद्रगुप्तिनृपस्तत्रा चकच्चारुगुणोदयः ॥ ७ ॥
मानविज्ञानपारीणो जिनपूजापुरंदरः ।
चतुर्द्धा दानदक्षो यः प्रतापजितभास्करः ॥ ८ ॥
चंद्रश्रीर्भामिनी तस्य चंद्रास्या श्रीरिवापरा ।
सती मतल्लिका जाता रूपादिगुणशालिनी ॥ ९ ॥

एकदाऽसौ विशांनाथः प्रसुप्तः सुखनिद्रया ।
निशायाः पश्चिमे यामे वातपित्तकफातिगः ॥ १० ॥
इमान षोडश दुःस्वप्नान ददर्शाऽऽश्चर्यकारकान ।
कल्पपादपशाखाया भङ्गमस्तमनं रवेः ॥ ११ ॥

तृतीयं तितउप्रख्यमुद्यन्त विधुमण्डलम् ।
तुरीयं फणिनं स्वप्ने फणद्वादशमण्डितम् ॥ १२ ॥
[illegible] [illegible] व्यपघट्टन्तं विभासुरं ।
[illegible] तु [illegible] नृत्यन्तं भूतवृन्दकम् ॥ १३ ॥
[illegible] तुच्छजलं सरः ।
[illegible] क्षीरान्नभक्षण ॥ १४ ॥

ज्ञात्वामुं य गजारूढमचिर कलशलोपनम ।
बाह्यमानं तथावत्सैर्भूरिभारभृतं रथम । १५ ॥

राजपुत्रं मयारूढं रजसा विहितं पुनः ।
रजराशि कनत्कान्ति युद्ध चामितदन्तिनो: ॥ १६ ॥
स्वप्नानिमान्विलोकेण मानमुदितमतनानमः ।
विपृच्छद्दोषिनं कश्चित्फलं तषां शुभाशुभम ॥ १७ ॥

अथाऽसौ विविधान्दशान्दशान्विचरन् गणनायकः ।
द्विद्वादशमहस्रेण मुनिभिः संयुतः सुधान ॥ १८ ॥

विशालापुरमायातस्सम्स्थिवान्सवगण्यत ।
तत्र निरन्तुकस्थाने बाह्योद्याने शुभाशय ॥ १९ ॥
फलितं तत्प्रभावेन वनं नानाफलैः फलैः ।
वनपालस्तनो ज्ञात्वा तत्स्थाने मह... ॥ २० ॥

फलादिकं ततो लात्वा जगाम नृपसन्निधिम् ।
सुमादिकं पुरस्कृत्य जगादवचनं वरम् ॥ २१ ॥
राजंस्त्वत्पुण्ययोगेन भद्रबाहुगणाग्रणी: ।
आजगाम त्वदुद्याने मुनिमन्दोहसंयुतः ॥ २२ ॥
समाकर्ण्य वचस्तस्य चंद्रगुप्तविशापति: ।
परमामुदमापन्न शिखिव घननिस्वनं ॥ २३ ॥
बहु वित्तं ददौ तस्मै चिकीर्षुर्गणिवंदनाम् ।
आनंदभेरिकां रम्यां दापयित्वा नराधिपः ॥ २४ ॥

गीतनर्तननृर्याद्यैः सामंतादिनृपैर्युतः ।
निर्जगाम महाभूत्या वन्दितुं संयताधिपम् ॥ २५ ॥
समासाद्य स सूरीशं परीत्य प्रश्रयान्वितः ।
समभ्यर्च्य गुरोः पादाब्जगंधसदक्षतादिकैः ॥ २६ ॥

प्रणनाम महाभक्त्या क्रमादन्यमुनीनपि ।
सप्ततत्त्वान्वितं धर्ममश्रौषीद्गुरुवाक्यतः ॥ २७ ॥
ततोऽतिभक्तितो नत्वा मौलिमण्डितमौलिना ।
मुकुलीकृतहस्ताब्जः पप्रच्छेति श्रुतेक्षणम् ॥ २८ ॥
निशायामहमद्राक्षं स्वप्नान्षोडशकानिमान् ।
सुरद्रुशाखाभङ्गादींस्तत्फलं कथयेश ! माम् ॥ २९ ॥

निशम्य भाषितं भूपं बभाण भाषितं स्वयम् ।
दंताशुद्योतिताशेषदिक्चक्रं योगिनायकः ॥ ३० ॥
प्रणिधाय मनो राजन्समाकर्णय तत्फलम् ।
निर्वेदजनकं पुंसां भाव्यसत्कालसूचकम् ॥ ३१ ॥
रवेरस्तमनालोकात्कालेऽत्र पञ्चमेऽशुभे ।
एकादशाङ्गपूर्वाधिश्रुतं हीनत्वमेष्यति ॥ ३२ ॥
सुरद्रुमलताभङ्गदर्शनाद् भूप ! भूपतिः ।
नातोग्रे संयमं कोपि ग्रहीष्यति जिनोदितम् ॥ ३३
बहुरन्ध्रान्वितस्येन्दोर्मण्डलोकनादिह ।
मतभेदाभविष्यन्ति बहवः जिनशासने ॥ ३४ ॥

द्वादशोरुफणाटोपमण्डितोरगवीक्षणात् ।
द्वादशाब्दमितं रौद्रं दुर्भिक्षं तु भविष्यति ॥ ३५ ॥

व्याधुट्यमानं गीर्वाणविमानं वीक्षितं ततः ।
कालेस्मिन्नाऽऽमिष्यन्ति सुरखेचरणचारणाः ॥ ३६ ॥

कचारम्बुजमुत्पन्नं दृष्टं प्रायेण तत्र वे ।
जिनधर्मं विधास्यन्ति हीना न क्षत्रियादयः ॥ ३७ ॥

भूतानां नर्तनं राजन्नद्राक्षीरद्भुतं तपः ।
नीचदेवरतामूढा भविष्यन्तीह मानवाः ॥ ३८ ॥

खद्योतोद्योतनाल्लोका जिनसूत्रोपदेशकाः ।
मिथ्यात्वबहुलास्तच्छा जिनधर्मोपि कुत्रचित ॥ ३९ ॥

सरसा पयसा रिक्तं नातितुच्छजलेन च ।
जिनजन्मादिकल्याणक्षेत्रे तीर्थत्वमाश्रितं ॥ ४० ॥

नाशमेष्यति सद्धर्मो मार्गवीरमदच्छिदः ।
स्थास्यतीह क्वचित्प्रान्ते विपर्ये दक्षिणादिके ॥ ४१ ॥ युग्मम्.

कलधौतमये पात्रे भषकक्षीरभक्षणात ।
प्राप्स्यन्ति प्राकृताः पद्मामुत्तमानां दुराशया ॥ ४२ ॥

तुङ्गमातङ्गमासीनशाखामृगनिरीक्षणात ।
राज्यं हीना विधास्यन्ति कुकुला न च बाहुजाः ॥ ४३ ॥

सीमोल्लङ्घनतः सिन्धोर्लास्यन्ति सकलां श्रियम् ।
जननां च भविष्यन्ति भूमिपा न्यायलङ्घकाः ॥ ४४ ॥

वन्मैरुद्वाहितोदाररथालोकान्मुमंयमम् ।
तारुण्ये चाचरिष्यन्ति वार्धिक्ये नाल्पशक्तितः ॥ ४५ ॥
क्रमेलकममारूढराजपुत्रस्य च क्षणात् ।
हिंसादिवि विधास्यन्ति धर्मं हित्वाऽमलं नृपाः ॥ ४६ ॥
रजमाऽऽच्छादितमद्रत्नराशेरीक्षणतो भृशम् ।
करिष्यन्ति नपाः स्नेयां निर्ग्रन्थमुनयो मिथः ॥ ४७ ॥
मत्तमानङ्गयोर्युद्धवीक्षणात्कृष्णयोरिह ।
मनोभिलषितां वृष्टिं न विधास्यन्ति वारिदाः ॥ ४८ ॥
इति स्वप्नफलं प्रोक्तं मयका धरणीपते ! ।
निशम्य भवभीतोऽसौ चिन्तयामास मानसे ॥ ४९ ॥
मंसारास्यारकान्तारे विपत्तिस्वापदाकुले ।
कालानलमहाभीमे बंभ्रमीति भ्रमाद्भवी ॥ ५० ॥
देहे गेहे रुजाश्लिष्टेः पोषितेऽपि गुणातिगे ।
मोमुह्यीति कथं प्राणी खलवद्दुःखदायके ॥ ५१ ॥
भोगास्तु भोगिवद्भीमा अतृप्तिजनका नृणाम् ।
आपाते सुन्दराः पाके किंपाकफलवन्मलाः ॥ ५२ ॥

भुञ्जन्भोगान्नवैरस्यङ्गी दुरन्तं दुःखमायतौ ।
पयः पिबन्यथा प्रोत्यालकुटं वृषदंशकः ॥ ५३ ॥
इति निर्वेदमासाद्य भवभ्रमणभीतधीः ।
राज्यं स्वसूनवे दत्त्वा देहे गेहेऽसंप्रभात् ॥ ५४ ॥

क्षमाप्य सकलान्बन्धून्समासाद्य गुरुं ततः ।
प्रश्रयात्प्रार्थयामास दीक्षां भवविरक्तधीः ॥ ५५ ॥
गणिनोऽनुज्ञया भूपो हित्वा सङ्गं द्विधा सुधीः ।
जग्राह संयमं शुद्धं साधकं शिवशर्मणः ॥ ५६ ॥
अथैकस्मिन्दिने भद्रो भद्रबाहुः समाययौ ।
श्रेष्ठिनो जिनदासस्य कायस्थित्य निकेतने ॥ ५७ ॥

दृष्ट्वाऽसौ परमानंदात्प्रतिजग्राह योगिनम् ।
तत्र शून्यगृहे चैको विद्यते केवलं शिशुः ॥ ५८ ॥
झोलिकांतर्गतः षष्ठिदिवसप्रमितस्तदा ।
गच्छ ! गच्छ !! वचोऽवादीत्तच्छ्रुत्वा मुनिनाद्भुतम् ॥५९॥
शिशुरुक्तः पुनस्तेन कियन्तोऽब्दाः शिशो !
वद द्वादशाब्दा मुने ! प्राचे निशम्य तद्वचः पुनः ॥ ६० ॥

निमित्तज्ञानतोऽज्ञासीन्मुनिरुत्पातमद्भुतम् ।
शरद्द्वादशपर्यंतं दुर्भिक्षं मध्यमण्डले ॥ ६१ ॥
भविष्यतितरां चेति कृपार्द्रमनसा मुनिः ।
अंतरायं विधायाऽऽशु ततो व्याघुटितो गृहात् ॥ ६२ ॥

समभ्येत्याऽऽत्मनः स्थानं समाहूय निजं गणम् ।
व्याजहार ततो योगी तपः संयमबृंहणम् ॥ ६३ ॥
समा द्वादश दुर्भिक्षं भविताऽत्रैव योगिनः ।
धनधान्यजनाकीर्णो जनान्तोऽयं सुखाकरः ॥ ६४ ॥

शून्यो भविष्यति क्षिप्रे तस्करनृपलुण्टनैः ।
ततः संयमिनां युक्तं नाऽत्र स्थातुं सुखार्तिगे ॥ ६५ ॥
निखिलेन गणेनेति प्रतिपन्नं गुरोर्वचः ।
विजहीर्षुस्ततो जातो गणीगणगणान्वितः ॥ ६६ ॥

श्रुत्वेति सकलाः श्राद्धा अभ्येत्य मुनिनायकम् ।
प्रणिपत्य वचः प्रोचुर्विनयाननमस्तकाः ॥ ६७ ॥
विजिहीर्षां समाकर्ण्य भगवन् ! भवतामतः ।
क्षोभमेति मनोऽस्माकं भक्तिभारवशीकृतम् । ६८ ।

स्वामिन्नत्र कृपां कृत्वा स्थीयतां स्थिरचेतसा ।
यतो गुरु विना सर्वे भवन्ति पशुसन्निभाः ॥ ६९ ॥
पद्माकरो विनापद्मं निर्गन्धं कुसुमं यथा ।
भाति दन्तं विना दन्ती तद्वद् भव्यो गुरुं विना ॥ ७० ॥

इति तद्वाक्यतोऽवाचेच्छ्राद्धाः ! शृणुत मद्वचः ।
द्वादशाऽब्दमनावृष्टिर्मध्ये देशे भविष्यति ॥ ७१ ॥
दुर्भिक्षं रौरवं चापि ततो युक्तम् न योगिनाम् ।
कदाचिदत्र संस्थातुं व्रतभङ्गभयात्मनाम् ॥ ७२ ॥
श्रुत्वा सकलसंघेन गिरं गुरुमुखोदितम् ।
करौ कुड्मलतां नीत्वा गणी विज्ञापितः पुनः ॥ ७३ ॥
भगवन् ! सर्वसंघोस्ति धनधान्यप्रपूरितः ।
विषकायकरो दक्षो धर्मभारधुरन्धरः ॥ ७४ ॥

विधास्यामस्तथा यद्वद्धमस्यात्यन्तवर्त्तनम् ।
नावृष्टेरऽपि भेतव्यं स्थातव्यं स्थिरचेतसा ॥ ७५ ॥
श्रेष्ठीकुबेरमित्राख्यस्तदैव समुदाहरत् ।
विपुलं विद्यते वित्तं त्वत्प्रमादेन मे किल ॥ ७६ ॥
प्रत्तं न क्षीणतामेति धनदस्यैव यद्धनम् ।
दास्ये यथेप्सितं दानं धर्मकर्मादिहेतवे ॥ ७७ ॥
जिनदासस्ततः श्रेष्ठी प्रोचे मधुरया गिरा ।
कोष्ठा विविधधान्यानां विद्यन्ते विपुला मम ॥ ७८ ॥
ये तु वर्षशतेनापि न क्षीयन्ते प्रदानतः ।
का वार्त्ता द्वादशाब्दानां तुच्छकालावलम्बिनाम् ॥ ७९ ॥
हीनदीनदरिद्रेभ्यो रङ्कवङ्कादिदुःखिने ।
दास्ये यथेप्सितं धान्यं दुर्भिक्षं किं करिष्यति ॥ ८० ॥
ततो माधवदत्ताख्यो विज्ञापयति मे प्रभो !
वर्त्तते सकला संपत्प्रतीता पुण्यपोषिता ॥ ८१ ॥
तस्मात्कृत्यं विधास्यामि पात्रदानादिभिर्भृशम् ।
सद्धर्मबृंहणेनापि बन्धुदत्तस्ततोऽवदत् ॥ ८२ ॥
देव ! देवप्रसादेन सन्ति मे विपुलाः श्रियः ।
विधास्ये शासनोद्योतं दानमानक्रियादिभिः ॥ ८३ ॥
इत्यादिसकलैः संघैर्गणी विज्ञापितोऽब्रवीत् ।
समाधाय मनः श्राद्धा ! मद्वचः शृणुतादरात् ॥ ८४ ॥
सङ्घोऽयं सुरवृक्षाभः समर्थः सर्वकर्मसु ।
तथापि नात्र योग्यास्था चारुचारित्रधारिणाम् ॥ ८५ ॥

पतिष्यतितरां रौद्रम् दुर्भिक्षं दुःखदं नृणाम् ।
धान्यवद्दुर्लभो भावी संयमः संयमैषिणाम् ॥ ८६ ॥
स्थास्यन्तिः योगिनो येऽत्र ते नं पास्यन्ति संयमम् ।
ततोऽस्माद्विहरिष्यामोऽवश्यं कण्टनीवृतम् ॥ ८७ ॥
विदित्वा विश्वमङ्गोऽसौ गुरूणामाशयं पुनः ।
रामल्यस्थूलभद्राख्यस्थूलाचार्यादियोगिनः ॥ ८८ ॥
प्रणम्य प्रार्थयामास भक्त्या संस्थितिहेतवे ।
श्राद्धानामुपरोधेन प्रतिपन्नं तु तद्वचः ॥ ८९ ॥
रामल्यप्रमुखास्तस्थुः सद्भद्रादशवर्षय ।
भद्रबाहुगणी तस्माच्चचाल वरचर्यया ॥ ९० ॥
द्वादशर्षिसहस्रेण परीतो गणनायकः ।
द्योतते स्म सुधांशुर्वा तारतारालिराजिताः ॥ ९१ ॥
यद्देशे विचरन्ति चारुचरिता निर्ग्रन्थयोगीश्वराः
पद्मिन्योऽपि च राजहंसविहगास्तत्रैव भाग्योदयः ।
इत्युक्तं हि पुराः निमित्तकुशलैस्तत्तथ्यतामाश्रिता-
स्तत्रत्या सुगुरुप्रयाणजशुचा प्रोचुर्मिथस्ते जनाः ॥९२॥
धर्मतो जिनपतेः सुसपर्या धर्मतोऽनघगुरोः परिचर्या ।
धर्मतोऽमलकुलं विभवाप्तिर्धोन्वीति हि ततः स विधेयः॥९३॥

इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे आचार्यश्रीरत्ननन्दिविरचिते
षोडशस्वप्नफलगुरुविहारवर्णनो नाम द्वितीयः
परिच्छेदः ॥२॥

तृतीयः परिच्छेदः ।

अथाऽसौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः ।
प्रापन्महाऽटवीं तत्र शुश्राव गगनध्वनिम् ॥ १ ॥

श्रुत्वा महाऽद्भुतं शब्दं निमित्तज्ञानतः सुधीः ।
आयुरल्पिष्टमात्मीयमज्ञासीद्बोधलोचनः ॥ २ ॥
तदा साधुः समाहूय तत्रैव सकलान्मुनीन् ।
विशाखाचार्यमापन्नं ज्ञात्वा सद्गुणसम्पदा ॥ ३ ॥

दशपूर्वधरं धीरं गाम्भीर्यादिगुणान्वितम् ।
स्वकीयगणरक्षार्थं स्वपदे पर्यकल्पयत् ॥ ४ ॥
समर्प्य सकलं सङ्घं क्षमाणाऽसौ पुनर्वचः ।
मदायुर्विद्यतेऽत्यल्पं स्थास्याम्यत्र गुहान्तरे ॥ ५ ॥

भवन्तो विहरन्त्वस्माद्दक्षिणं पथमुत्तमम् ।
संघेन महता सार्धं तत्र तिष्ठन्तु सौख्यतः ॥ ६ ॥
श्रुत्वा गुरूदितं प्रोचे विशाखो गणनायकः ।
मुक्त्वा गुरुं कथं यामो वयमेकाकिनो विभो ! ॥ ७ ॥

चन्द्रगुप्तिस्तदावादीद्विनयान्नवदीक्षितः ।
द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेऽति भक्तितः ॥ ८ ॥
गुरुणा वार्यमाणोऽपि गुरुभक्तः स तस्थिवान् ।
गुरुशिष्टिवशादन्ये तस्माच्चेलुस्तपोधनाः ॥ ९ ॥

गुरोर्विरहसंभूतशुचा मव्यग्रमानसाः ।
त एव कीर्त्तिताः शिष्या ये गुर्वाज्ञानुवर्त्तिनः ॥ १० ॥
विशाखो विहरन्सूरिरीर्या निहितलोचनः ।
परीतो मुनिसंघेन दक्षिणापथमुल्वणम् ॥ ११ ॥

बोधयन्सकलान्भव्याश्चोलदेशं समासदन् ।
द्योतयञ्छासनं जैनं पाव्यत्रवदीक्षितान् ॥ १२

तस्थौ तत्र गणाधीशः कुर्वन्धर्मोपदेशनम् ।
अथ बाहुर्विशुद्धात्मा भद्रपूर्वं सुतत्त्ववित ॥ १३ ॥

निरुन्ध्य निखिलान्योगान्योगी योगपरायणः ।
सन्यासविधिमादाय तस्थौ तत्र गुहान्तरे ॥ १४ ॥
चन्द्रगुप्तिगुरोस्तत्र कुरुते पर्युपासनम् ।
सागाराणागभावेन कुर्वाणः प्रोषधं परम् ॥ १५ ॥

गुरुणोक्तस्तदा शिष्यो वत्सैतन्नैव युज्यते ।
कुरु कान्तारचर्यां त्वं यथोक्तां श्रीजिनागमे ॥ १६ ॥
गिरं गुरूदितां रम्यां प्रमाणीकृत्य संयतः ।
प्रणम्य गुरुपादाब्जौ भ्रामर्यं स व्यचीचरत् ॥ १७ ॥
भ्रमंस्तत्र स भिक्षार्थं पश्यानां शाखिनामधः ।
वनदेवी विदित्वा तं गुरुभक्तः दृढव्रतम् ॥ १८ ॥
वत्सला जिनधर्मस्य तत्रागत्य स्वयं स्थिता ।
परावृत्य निजं रूपमेकेनैव स्वपाणिना ॥ १९ ॥

दर्शयन्ती शुभस्वान्ता पादपाथोधृतां पराम् ।
परमान्नभृतां स्थालीं सर्पिःखण्डादिमण्डिताम् ॥ २० ॥

तच्चित्रं तत्र वीक्ष्याऽसौ चिन्तयामास मानसे ।
सिद्धं शुद्धमपि भोज्यं न युक्तं दातृवर्जितम् ॥ २१ ॥

ततो व्याघुटितस्तस्मादागत्य गुरुमानमत् ।
यद्दृष्टं तत्र तत्सर्वं समाचष्टे गुरोः पुरः ॥ २२ ॥

गुरुणा शंसितः शिष्यो यत्सेदं विहितं परम् ।
प्रतिग्रहादिविधिना दत्तं दात्रा हि गृह्यते ॥ २३ ॥

चन्द्रगुप्तिर्द्वितीयेऽह्नि नत्वा [illegible] योगिनम् ।
जगामान्यसदर्शोऽपि तत्रालोकि [illegible]म् ॥ २४ ॥

गत्वा गुरुं वन्दित्वाऽसौ तद्वृत्तं समचीकथत् ।
सूरिणा शंसितः शिष्यो भद्र ! भद्रं त्वया कृतम् ॥ २५ ॥

न युक्तं यतिनामेतत्स्वयमन्यात्रसेवनम् ।
चन्द्रगुप्तिस्तृतीयेऽह्नि प्रवन्द्य गुरुपङ्कजम् ॥ २६ ॥

कायस्थित्यै चचालाऽसौ तत्राप्येकाकिनीं स्त्रियम् ।
विलोक्यायोग्यतां मत्वा विरराम ततो व्रजात् ॥ २७ ॥

गुरुमभ्येत्यवन्दित्वा पुनस्तद्वृत्तमालपत् ।
तदाकर्ण्य समाचष्टे दीक्षितं संशयन्गुरुः ॥ २८ ॥

यदुक्तमागमे वत्स ! तदेवाऽनुष्ठितं त्वया ।
न युक्तं यत्र वामैका यतीनां तत्र जेमनम् ॥ २९ ॥

चतुर्थेऽह्नि गुरुं नत्वा लेपार्थं व्यचरन्मुनिः ।
ज्ञात्वा दृढव्रतं धीरं देव्या तं शुद्धचेतसम् ॥ ३० ॥
नगरं निर्मितं तत्र सागारिजनं संकुलम् ।
गच्छंस्तत्र मुनिर्वीक्ष्य नगरं नागरैर्भृतम् ॥ ३१ ॥
प्रविष्टस्तत्र सागारैर्वन्द्यमानः पदे पदे ।
जग्राह रुचिराऽऽहारं प्रतं श्राद्धैर्यथाविधिः ॥ ३२ ॥
कृत्वाऽसौ पारणं गत्वा स्वस्थानं त्वरित गुरुम् ।
प्रणनाम महाभक्त्या पृष्टोऽसौ गणिना ततः ॥ ३३ ॥
पारणं विहितं वत्स ! नैरन्तर्येण सोऽवदत ।
भगवन्नेकमामन्नं दृगमालोकि गच्छता ॥ ३४ ॥
लेपस्तत्र कृतो देव ! नैरन्तर्येण साम्प्रतम् ।
गुरुणा संशितः शिष्यः सूत्रोक्तं विहितं त्वया ॥ ३५ ॥
चन्द्रगुप्तिमुनिर्भक्त्या विवेकविनयात्मकः ।
पारणां तत्पुरे कुर्वन्नुपास्ते गुरुपंकजम् ॥ ३६ ॥
भयसप्तपरित्यक्तो भद्रबाहुर्महामुनिः ।
असनायापिपासोत्थं जिगाय श्रममुल्वणम् ॥ ३७ ॥
चतुर्धाराधनां शुद्धामाराध्य विधिवन्मुधीः ।
शुद्धोपयोगमाधाय देह निस्पृहमानसः ॥ ३८ ॥
समाधिना परित्यज्य देहं गेहं रुजां मुनिः ।
नाकि लोकं परप्राप्तो देवदेवीनमस्कृतम् ॥ ३९ ॥
चन्द्रगुप्तिमुनिस्तत्र चंचेच्चारित्रभूषणः ।
आलिख्य चरणौ चारु गुरोः संसेवते सदा ॥ ४० ॥

वैभवं विनयो विद्या विवेको विपुलं यशः ।
मतिभूत्यादयोऽन्येऽपि भवन्ति गुरुभक्तितः ॥ ४१ ॥
गुरुभक्त्या भवेद्यत्र महारण्ये महत्पुरम् ।
तत्राभीष्टं फलं चैव कल्पवल्येव विन्दते ॥ ४२ ॥
दानं तपो तथा ध्यानं क्षमाक्षजयसत्क्रिया ।
गुरुशिष्टिं विना सर्वे वृथा निर्नाथसैन्यवत् ॥ ४३ ॥
विदित्वेति सदा भव्या इहामुत्रसुखैषिणः ।
कुर्वन्तु श्रीगुरोराज्ञां सेवाभीष्टफलप्रदाम् ॥ ४४ ॥
रामल्यस्थूलभद्राद्या अवन्त्यां ये तु संस्थिताः ।
गुरोः शिष्टि समुल्लङ्घ्य तेषां तत्फलमुच्यते ॥ ४५ ॥
अथाऽखिलजानन्तेपु दुर्भिक्षं समपी पतत् ।
नितरां दुःखदं नृणां दारुणं षष्ठकालवत् ॥ ४६ ॥
तदा कुबेरमित्राद्या अनिवाय कुबेरवत् ।
हीनदीनदरिद्रेभ्या ददुदानं दयालवः ॥ ४७ ॥
अन्यदेशभवालोका दुर्भिक्षणाति दुःखिताः ।
विदित्वा विजयेऽवन्त्यां सौभिक्ष्यं सुखकारणम् ॥ ४८ ॥
इतस्ततः समाजग्मुः क्षुधा क्षीणकलेवराः ।
रङ्का वङ्का गताशङ्का वभूवुस्तत्र भूरिशः ॥ ४९ ॥
केचित्पगस्थमात्राङ्गः क्षुत्तिपमाऽतपीडिताः ।
व्याधिताः शोकिताः केचिन्म्रियन्तेऽन्येऽत्र दुःखत ॥ ५० ॥
क्षिपन्ति स्पर्शिशून्केचित्स्वादन्त्यन्ये शवादिकान् ।
ग्रासैकार्थे सुतं माता हन्ति पुत्राऽपि मातरम् ॥ ५१ ॥

दीयमानं क्वचिच्छ्रुत्वा धावन्तेस्तेप्रतस्ततः ।
केचिल्लुठन्ति भूपीठ पीड्यन्तेऽन्ये रटन्ति च ॥ ५२ ॥
अन्तरङ्का बहिरङ्का वीथ्यारङ्का पदे पदे ।
स्वमिताश्च मृताः केचित्माऽऽसीद्रङ्कमयी ततः ॥ ५३ ॥

एकदाऽऽहारमादाय रामल्याद्या वने गताः ।
मुनिरेकः स्थितः पश्चाद्वीक्ष्य रङ्का भृतोदरम् ॥ ५४ ॥
मिलित्वा बहवस्ते तु निर्दयक्रूर चेतसः ।
विदार्य जठरं तस्य ददन्नं द्रागभक्षयन् ॥ ५५ ॥
मुनेरुपद्रवं घोरं निशम्यासतीव भीषणम् ।
हाहारवकलं जातं निखिलं नगरं द्रुतम् ॥ ५६ ॥
सर्वे संभूय सागारा व्याकुलीभूतमानसाः ।
दुःखदावानलम्लाना आसेदुर्मुनिमण्डलीम् ॥ ५७ ॥
नत्वा विज्ञापयामासुर्गुरुं मुनिगणावृतम् ।
भगवन् ! भीषणः कालः कृतान्तो वा समायया ॥ ५८ ॥
ततोऽनुग्रहं कृत्वा प्रमाणीक्रियतां वचः ।
मध्ये पुरं वनं त्यक्त्वा तिष्ठन्तु यतयोऽखिलाः ॥ ५९ ॥
स्वथाऽस्माकं भवेत्स्वास्थ्यं संयतानां च रक्षणम् ।
भवतां शुद्धबोधानां यथाऽरण्यं तथा पुरम् ॥ ६० ॥
श्राद्धैरभ्यर्थिता भूयोऽङ्गीचक्रुस्तद्वचो वरम् ।
संयतास्तैः समानीता मध्येद्रंगं महोत्सवात् ॥ ६१ ॥

रक्षिता ज्ञातिबन्धेन भिन्नभिन्नाश्रयेषु ते ।
तस्थिवांसोऽखिलास्तत्र संयमाहितचेतसः ॥ ६२ ॥
असिवर्षं पतत्येवं दुर्भिक्षं दुःखकारणम् ।
यदा ते यान्ति लेपार्थं रंका स्युः पुरुस्तदा ॥ ६३ ॥
वदन्तो देहि देहीति दानं वचो दयामयम् ।
गन्तुं तेभ्यो न लभ्येताऽऽहारार्थं मुनिसत्तमः ॥ ६४ ॥
ताड्यन्ति तदा श्राद्धा यष्ट्याद्यैः क्षीणविग्रहान् ।
विलपन्ति वराकास्ते रुदन्ति दीननानसाः ॥ ६५ ॥
विधाय विघ्नमायान्ति मुनयोतिदयालवः ।
तन्निरीक्ष्य क्वचिच्चापि दत्तद्वारं निकेतनम् ॥ ६६ ॥
सागारा व्याकुलीभूताः समाजग्मुर्गुरोः पुरः ।
विज्ञप्तिं चक्रिरे नत्वा भक्तिभारवशीकृताः ॥ ६७ ॥
किं कार्यमधुना नाथ ! रङ्कव्याप्ताऽखिला मही ।
क्षणेकं न जनो द्वारमुद्घाटयति तद्भयात् ॥ ६८ ॥
दिवा न पार्यते वक्तुं ततोऽन्नं निशि पच्यते ।
कालोऽयं विषमो भीमो धर्मध्वंसकरोऽस्महः ॥ ६९ ॥
ततस्तस्यां समादाय पात्रैरस्मन्निकेतनात् ।
सदन्नं स्वाश्रये नीत्वा भवन्तो रङ्कसाध्वसात् ॥ ७० ॥
तत्रैव वासरे याते कुरुध्वं भोजनं पुनः ।
प्रमाणीकुरुताऽस्माकं वचः सर्वं सुखप्रदम् ॥ ७१ ॥
तच्छ्रुत्वा तान्पुनः प्रोचुर्विमृश्याऽखिलसंयताः ।
तावदेवं विधास्यामो यावत्कालो न शोभनः ॥ ७२ ॥

इत्युदीर्या ऽदधुः पात्रमलाबूनममत्रागाः ।
भिक्षुत्रश्चमयात्तेऽतो गृहीत्वा यष्टिकां करे ॥ ७३ ॥
स्वस्वाश्रमे समानीय भक्तं ते गेहिगेहतः ।
आहारे ददते न्योन्यं स्वय मार्गपरिच्युताः ॥ ७४ ॥
दत्वा च त्रमतेद्वारं गवाक्षस्य प्रकाशतः ।
इत्याचरन्ति ते नित्यं कापथस्यावलम्बिनः ॥ ७५ ॥
अन्यदैको मुनिः कश्चित्क्षीणाङ्ग सङ्गवर्जितः ।
भिक्षापात्रं करे कृत्वा निशीथे निर्ययो ततः ॥ ७६ ॥
प्रविवेश यशोभद्रश्रेष्ठिनो वरसद्मनि ।
गृहिणी गुर्विणी तस्य धनश्री नामधारिणी ॥ ७७ ॥
विलोक्य भीषणं रूपं यष्टिपात्रादिसंयुतम् ।
ध्वान्ते सौ राक्षसभ्रान्त्या तत्रास नितरां हृदि ॥ ७८
तद्भियाऽपीपतत्तस्या भ्रूणो विभ्रमकारकः ।
मुनिर्दयाघुटितस्तस्यात्तदा हाहारवोऽभवत् ॥ ७९ ॥
सागराः संयतान्प्राप्य प्रोचिरे गिरमुत्तमम् ।
विनष्टो मुनयः कालः श्रूयतां नो वचस्ततः ॥ ८० ॥
एतश्च विषमं रूपं जनानां भीतिकारकम् ।
धृत्वा सुरल्लकं शीर्षे परिधायार्द्ध फालकम् ॥ ८१ ॥
नक्तं भक्तं समानीय वासरे कुरुताऽशनम् ।
यावन्न शोभनः कालस्तावदेवं विधीयताम् ॥ ८२ ॥
काल मन्जुलतां प्राप्ते पुनस्तपसि तिष्ठत ।
तदभ्युपगतं वाक्यं तेषां सकलसाधुभिः ॥ ८३ ॥

इत्याचरन्तस्ते प्रापुः शैथिल्यं तु शनैः शनैः ।
प्रत्यूहादिव्रतेषुच्चैः किं न कुर्युः कदध्वगा ॥ ८४ ॥
इत्थं तु द्वादशाब्देषु गतेषु बहुदुःखतः ।
सुवृष्टिः सुस्थितिः सौख्यं सौभिक्ष्यं समजायत ॥ ८५ ॥
अथापाचीजनपदाद्विशाखो गणनायकः ।
उत्तरापथमागच्छत्संस्कृतो मुनिसत्तमैः ॥ ८६ ॥
भद्रबाहुगुरुर्यत्र तस्थौ तत्रासपाद स ।
गुरोर्निषेधिकां तेन ववन्दे विनयान्वितः ॥ ८७ ॥
चन्द्रादिगुप्तमुनिना वन्दितः सूरिसत्तमः ।
कथं श्राद्धं विनाऽत्रास्थनेयेप प्रतिवन्दितः ॥ ८८ ॥
तद्दिने मुनिभिः सर्वैरुपासं कृतं शुभम् ।
सागरासादस्त्वानेथन्द्रगुप्तिस्ततोऽलपत् ॥ ८९ ॥
भगवन् ! भूरिसागारं नगरं नागरैर्मृतम् ।
विद्यते विपुलं तत्र क्रियतां कायसंस्थितिः ॥ ९० ॥
साश्चर्यहृदयास्ते तत्पारणार्थं प्रपेदिरे ।
सकलैर्वरश्राद्धैर्वन्द्यमानाः पदे पदे ॥ ९१ ॥
विधाय विधिनाऽऽहारमाजग्मुस्ते निजाश्रयम् ।
तत्रैकां कुण्डिकां वर्णी विस्मृतो वरपत्तने ॥ ९२ ॥
स गतस्तां पुनर्लातुं नेक्षते तत्र तत्पुरम् ।
कुण्डिकां शाखिशाखायां व्यलोकिष्टैव केवलम् ॥ ९३ ॥
आदाय तां तदा वर्णी प्राप्य तद्गुरुमालपत् ।
तदद्भुतं नियम्यासौ चिन्तयामास मानसे ॥ ९४ ॥

अयं विशुद्धचारित्रश्चन्द्रगुप्तिर्महामुनिः ।
तदीयपुण्यतो नूनं देवताऽरीरचत्पुरम् ॥ ९५ ॥
विघ्रुगुप्तिं प्रशस्यामात्रप्राक्षीद्विशदाशयम् ।
तत्रत्यं सकलोदन्तं प्रतिवेद्य च तं पुनः ॥ ९६ ॥
न योग्यो यतीनां लेपो मन्येति सुरकल्पितम् ।
प्रायश्चित्तं ततोऽग्राहि मुनिना सूरिजल्पितम् ॥ ९७ ॥
तदाऽखिलगणेनाऽपि गृहीतं गणिनः स्फुटम् ।
ततोऽसौ विहरन्स्वामी कन्यकुब्जं समापतत् ॥ ९८ ॥

अथ घनपयमानः सच्चरित्राऽवधानो,
मिहिरकरसुधामा शुद्धबोधैकधामा ।
फलितनगनिवेशे तत्पुरोद्यानदेशे,
मुनिवरगणपूर्णः सूरिवर्योऽवतीर्णः ॥ ९९ ॥

निरन्तरान्तगतात्मवृत्तिं,
निरस्तदुर्बोधमतोवितानम् ।
श्रीभद्रबाहुगणकरं विशुद्धं,
विनौमि मीमोहितशातसिद्ध्यै ॥ १०० ॥

इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे आचार्यश्रीरत्ननन्दिविरचिते
द्वादश वर्ष दुर्भिक्षवशात्साधूनां दक्षिणागमन
वर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ॥ ३ ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

स्थूलाचार्याभिधानोऽथ समाकर्ण्य गणान्वितम् ।
विशाखाचार्यमायातमवाचीविजयादिह ॥ १ ॥
तं द्रष्टुं प्रेषिताः शिष्या गतास्ते सूरिसन्निधौ ।
तत्राऽसौ वंदितः सर्वैर्मुनिभिर्भक्तितत्परैः ॥ २ ॥
विहिता गणिना तेन तेषां न प्रतिवंदना ।
किमिदं दर्शनं नूनमादृतं चेति भाषितम् ॥ ३ ॥
श्रुत्वा तेऽतित्रपापन्ना व्याघुट्य तद्गुरुं जगुः ।
रामल्यस्थूलभद्राख्यौ स्थूलाचार्यस्त्रयोऽप्यमी ॥ ४ ॥
एकीकृत्याऽखिलांसाधून्प्रोचिरे ते मिथो वचः ।
किं कार्यमधुनाऽस्माभिः का स्थितिश्च सुखप्रदा ॥ ५ ॥
स्थूलाचार्यस्तदा वृद्धो व्याजहार वचो वरम् ।
शृणुध्वं मामिकां वाचं साध्वोऽभीष्टसौख्यदाम् ॥ ६ ॥
जिनोक्तमार्गमाश्रित्य हित्वा कापथमञ्जसा ।
कुरुध्वं शिवसंसिद्ध्यै छेदोपस्थापनं परम् ॥ ७ ॥
न तेषां तद्वचः प्रीत्यै साधूनां हितमप्यभूत् ।
पित्तज्वरवतां किं न सितापि कटुकायते ॥ ८ ॥
ततोऽन्ये मुनयः प्रोचुर्यौवनोद्धतबुद्धयः ।
यदुक्तं त्वयका सूरे ! तत्त वक्तुं न युज्यते ॥ ९ ॥

ततोऽत्र विषमे काले द्वाविंशतिपरीषहान् ।
क्षुत्पिपासाऽतरायादीन्कः सहेताऽतिदुस्सहान् ॥ १० ॥
भवन्तः स्थविराः किञ्चिन्नविदन्ति शुभाऽशुभम ।
सुखसाध्यमिमं मार्गमुक्त्वा कः दुष्करं चरेत् ॥ ११ ॥
स्थूलाचार्यस्तत. प्रोचे नैनद्दर्शनमुत्तमम् ।
किंपाकफलवद्रम्यमधुनाग्रेति दु खदम् ॥ १२ ॥
मूलमार्गं परित्यज्य कापथं कल्पयन्ति ये ।
भ्रमंति ते भवारण्ये मरीच्याद्या यथा पुरा ॥ १३ ॥
नायं मार्गो भवेन्मुक्त्यै परं स्वोदरपूर्त्तये ।
केचित्तदुक्तितो भव्या मूलमार्गं प्रपेदिरे ॥ १४ ॥
केचित्तदुक्त्या मन्या मुनयः कोपमागताः ।
जाज्वलीति न किं तप्तं तैलं शीताम्बुनापि हि ॥ १५ ॥
कुपिता ते तदा प्रोचुर्वर्षीयानेष वेत्ति किम् ।
वक्तीत्थं वातुलीभूतो वार्धिक्ये वा मतिभ्रमात् ॥ १६ ॥
वृद्धोऽयं यावदत्रास्ति तावन्नो न सुखस्थितिः ।
इति संचिन्त्य ते पापास्तं हन्तुं मनिमादधुः ॥ १७ ॥
दुष्टैश्चण्डैः शिष्यैर्मौण्डैर्दण्डैर्हतो हठात् ।
जीर्णाचार्यस्ततो क्षिप्तो गर्ते कूटेन तत्र तैः ॥ १८ ॥
कुशिष्याणां हि शिक्षाऽपि खलमैत्रीव दुःखदा ।
मृत्वाऽऽर्त्तध्यानतः सोऽपि व्यन्तर समजायत ॥ १९ ॥

विदित्वाऽवधिबोधेन देवोऽसौ पूर्वसंभवम् ।
चकार मुनिमन्या नां ि तरां दुरुपद्रवम् ॥ २० ॥
रेणूपलाग्निवर्षाद्यैवदन्निति वचोभृशम ।
तथा उन्यं विधास्ये वो यथा मे विहितं पुरा ॥ २१ ।
मर्वेतमृचु संत्रस्ता ज्ञात्वा गुरुचरं तके ।
क्षमस्व मामकीनागो देवाऽज्ञानाद्विनिर्मितम् ॥ २२ ॥
यदीमं विषयं त्यक्त्वा ग्रहिष्यथ सुसंयमम् ।
तदा जन्याद्विमोक्ष्ये च ते तदाकर्ण्य संजगुः ॥ २३ ॥
दुर्धरो मूलमार्गोयं न धर्तुं शक्यते तत ।
नित्यं गुरुत्वाच्च पूजां विधास्यामोऽतिभक्तित ॥ २४ ॥
नीचानिविनयाच्छान्ति कुपितं व्यन्तराऽमनम् ।
गुरोरस्थि ममानीय तत्र संकल्पते गुरु ॥ २५ ॥
नित्यमर्चन्ति वन्दन्ते लोका ऽद्यापि लपन्ति तम् ।
श्रमणादिरहडो याव्यं क्षपणास्थिप्रकल्पनात् ॥ २६ ॥
तथा तच्छान्तये काष्टपट्टिकाऽष्टाङ्गुलायता ।
चतुरस्रा स एवेयमिति संकल्प्य पूजिता ॥ २७ ॥
यथाविधि परिस्थाप्य पूजितः सोऽर्द्धफालकैः ।
परित्यक्तं ततस्तेन चेष्टितं विक्रियामयम् ॥ २८ ॥
पर्युपासननामाऽसौ कुलदेवोऽभवत्ततः ।
भक्त्या महीयतेऽद्यापि वारिगन्धाक्षतादिकैः ॥ २९ ॥
अतोऽर्द्धफलकं लोके ख्यानसे मतमद्भुतम् ।

कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत् ॥ ३० ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रस्य सूत्रं संकल्पतेऽन्यथा ।
वर्त्तयन्ति स्म दुर्मार्गे जनान्मूढत्वमाश्रितान् ॥ ३१ ॥
यथा स्वयं समारब्धं व्रतं पंचाक्षलोलुपैः ।
निरङ्कुशैस्तथा सूत्रे सूत्रितं निजबुद्धितः ॥ ३२ ॥
एवं बहुतरे काले व्यतिक्रान्तेऽभवत्पुरे ।
उज्जयिन्यां विशांनाथश्चन्द्रवच्चन्द्रकीर्त्तिवाक् ॥ ३३ ॥
चन्द्रश्रीः श्रीरिवख्याता तस्याग्रमहिषी शुभा ।
दम्पत्योश्चन्द्रलेखाख्या तयोर्जात्मजा वरा ॥ ३४ ॥
साऽभ्यासे मुनिमन्यानां शास्त्राणि समपीपठत् ।
विचक्षणाऽभवद्रूपलावण्यादिगुणान्विता ॥ ३५ ॥
सौराष्ट्रविजयेऽथाऽस्ति वलभीपुरमुत्तमम् ।
धरेशितापजापालनाम्ना तत्र नयान्वितः ॥ ३६ ॥
निजप्रतापतापेन तापिताऽखिलशात्रवः ।
प्रजावती गिरा राज्ञी तस्याऽऽसीच्चारुलक्षणा ॥ ३७ ॥
लोकपालाभिधस्तोकस्तयोश्चारुगुणोऽभवत् ।
रूपसौभाग्यसम्पन्नो ज्ञानविज्ञानपारगः ॥ ३८ ॥
प्रजापाल. स्वपुत्रार्थं चन्द्रकीर्त्तिनृपात्मजाम् ।
प्रमोदात्प्रार्थनायामास चन्द्रलेखां गुणोज्वलाम् ॥ ३९ ॥
उपयम्य कुमारोऽसौ तां कन्यां नवयौवनम् ।
बोभुजीति तया भोगान् शच्या वा सुरनायकः ॥ ४० ॥

क्रमात्संप्राप्य पुण्येन प्राज्यं राज्यं पितुर्मुदा ।
चकार चन्द्रलेखां तां सदग्रममहिषीपदे ॥ ४१ ॥
लोकपालो नृपः सार्धं कुर्वन्नामात्मनो भृशम् ।
विधत्ते विशदं राज्यं नताऽशेषमहीपति ॥ ४२ ॥
एकदाऽनन्दचित्तोसौ राज्ञा विज्ञापितो नृपः ।
नाथाऽस्मद्गुरवः सन्ति कन्यकुब्जाख्यपत्तने ॥ ४३ ॥
तानानायय वेगेन जगत्पूज्यान्सदाग्रहान् ।
प्रियाप्रियतया भूपस्तद्वचो मानयन्मुदा ॥ ४४ ॥
तॉंस्तु प्रेषयामास तत्रैवाऽऽत्मीयसज्जनान् ।
गत्वा तेन्वा भृशं भक्त्या गुरूंस्ते तत्र संस्थितान् ॥ ४५ ॥
तैः समभ्यर्थिता भूयो विनयादर्धफालकाः ।
जिनचन्द्रादयः प्रापुर्वलभीपुरभेदनम् ॥ ४६ ॥
आकर्ण्याऽऽगमनं साधुसङ्घस्य धरणीश्वरः ।
वन्दितुं निःससाराशु परानन्दधुरामितः ॥ ४७ ॥
तूर्यत्रिकवराराववधिरीकृतदिङ्मुखम् ।
सामन्ताऽमात्यपौरस्थपरिवारपरिष्कृतः ॥ ४८ ॥
विलोक्य दूरतः साधून्विस्मयादित्यचिन्तयत् ।
किमेतद्दर्शनं निन्द्यं लोकेऽत्र स्वविडम्बकम् ॥ ४९ ॥
नग्ना वस्त्रेण संवृता नेक्ष्यन्ते यत्र साधवः ।
गन्तुं न युज्यते नोऽत्र नूत्नदर्शनदर्शनात् ॥ ५० ॥
व्याघुट्य भूपतिस्तमान्निजमन्दिरमेयिवान् ।
ज्ञात्वा राज्ञी नरेन्द्रस्य मानसं सहसास्फुटम् ॥ ५१ ॥

गुरूणां गुरुभक्तत्वा सा प्राहिणोऽभिचयोच्चयम् ।
तैर्गृहीतानि वासांसि मुदा तानि तदुक्तितः ॥ ५१ ॥
ततस्ते भूभृता भक्त्या पूजिता मानिता भृशम् ।
किमकार्यन्न कुर्वन्ति रामारागेण रञ्जिताः ॥ ५३ ॥
धृतानि श्वेतवासांसि तद्दिनात्समजायत ।
श्वेताम्बरमतं ख्यातम् ततोऽर्द्धफालकमतात् ॥ ५४ ॥
मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिके शते ।
गते व्हानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधम् ॥ ५५ ॥
भुनक्ति केवलज्ञानी स्त्रीणां मोक्षोपि तद्भवे ।
साधूनां च ममङ्गानां गर्भापहरणादिकम् ॥ ५६ ॥
इत्यागमसन्दोहं विपरीतं जिनोदितम् ।
व्यरीरचत्स मूढात्मा जिनचन्द्रो गणाग्रणी ॥ ५७ ॥
अनन्तसौख्यता यस्य न तस्याऽऽहारसंभव ।
यदस्ति तर्हि ज्ञायेत व्याघातोऽनन्तशर्म्मणाम् ॥ ५८ ॥
नास्त्याऽऽहारः क्षुधाऽभावे क्षुन्मूलो दोषसंचयः ।
इति हेतोः सदोषत्वं जिनदेहस्य जायते ॥ ५९ ॥
बोभवीति बुभुक्षाऽऽयं सद्भावे वेद्यकर्म्मणः ।
भुक्तिं केवलिनां तस्मान्न युक्ता दोषदायिनी ॥ ६० ॥
क्षीणमोहे जिने वेद्यं स्वकार्यकरणे-क्षमम् ।
स्वकीयशक्तिरहितं दग्धरज्जुवदक्षमा ॥ ६१ ॥
मोहमूढं भवेद्वेद्यं क्षुधादिफलकारकम् ।
तदभावेऽक्षमं वेद्यं छिन्नमूलतरुर्यथा ॥ ६२ ॥

भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा स्यात्सेच्छापि मोहसंभवा।
तद्विनाशे जिनेन्द्रस्य कथं स्याद्भुक्ति संभवः ॥ ६३ ॥
तद्यथा—
विरक्तस्येन्द्रियार्थेषु गुप्तित्रितयसेयुषः।
मुनेः संजायते ध्यानं कर्ममर्मनिबर्हणम् ॥ ६४ ॥
ध्यानात्साम्यपरमः शुद्धस्तस्मात्स्यात्मावबोधनम्।
विदधाति ततोऽशेषमोहनीयक्षयं सुधीः ॥ ६५ ॥
क्षीणमोही ततो भूत्वा कृत्वा घातित्रयक्षयम्।
शुक्लध्यानाऽग्निना योगी केवलीस्याद्विभासुरः ॥ ६६ ॥
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैस्तुसोऽनन्तसुखामृतैः।
लोकालोकोल्लसद्बोधो भुङ्क्ते सो केवली कथम् ॥ ६७ ॥
दोषाः क्षुधादयः केचिद्दृश्यन्ते चेज्जिनप्रभो।
कथं स्याद्वीतरागोऽसौ शुद्धात्मा दोषविच्युतः ॥ ६८ ॥
उदासीन्यजुषः साधोः कुर्वतो भोजनादिकम्।
यदिस्याद्वीतरागत्वं तर्हि केवलिनो न किम् ॥ ६९ ॥
वातुलानां प्रलापोऽयं भवेन्न तु मनीषिणाम्।
यतस्तत्रोपचारेण वीतरागत्वकल्पना ॥ ७० ॥
तनुस्थितिर्नैचाऽऽहारं विना क्वापीह दृश्यते।
केवलज्ञानिभिस्तस्मादाहारो गृह्यतेऽनिशम् ॥ ७१ ॥
नोकर्म कर्म नामा च कवलो लेपनाम भाक्।
ऊजश्च मानसाऽऽहार आहारः षड्विधो मतः ॥ ७२ ॥

देहिनामेवमाहारस्तनुसंस्थितिकारणम् ।
तन्मध्ये कवलाहारादन्यस्माद्वा तनुस्थिति ।। ७३ ।।
कर्मनोकर्मकाऽऽहारग्रहणादेहसंस्थितिः ।
भवेत्केवलिनां चैव सम्यं नो मते स्फुटम् । ७४ ।।
आहोस्वित्स्वत्कवलाहारपूर्विकाङ्गस्थिर्भवेत् ।
त्वयैयं कथ्यते तत्र संसिद्धा व्यभिचारिता ।। ७५ ।।
एकाक्षजातिजीवेषु लेपाहरो हि सम्भवेत् ।
देवेषु मानमाऽऽहार उजश्च खगजातिषु ।। ७६ ।।

उक्तश्चाऽन्यत्र- -

णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे ।
कवलाहारो णरपसु पक्खी उज्जोणगे लेऊ ।। ७७ ।।
ततोऽर्हतो न स्वप्नेऽपि ग्रासाऽऽहारो शुद्धसुधीः ।
अथास्तु तस्य वेग्रेन बुभुक्षापरिकल्पनम् ।। ७८ ।।
कथं भुङ्क्ते जिनः पश्यन् जन्तूनां विविधं वधम् ।
जिनोऽल्पज्ञानिवच्छुद्धमशुद्धं वा भुनक्ति किम् ।। ७९ ।।
अभावेनाऽन्तरायाणां कुरुते यदि भोजनम् ।
श्राद्धेभ्योऽप्यतिहीन त्वमाप्नुयात्तर्हि गर्हितम् ।। ८० ।।
विलोक्य मांसरक्तादीन्नान्तरायान्करोति च ।
तदा सर्वज्ञभावस्य तेन प्रत्तो जलाञ्जलिः ।। ८१ ।।
केवली कवलाहारं करोतीति वदन्ति ये ।
तथापि ते न लज्जन्ते दुर्मताऽऽसवमोहिताः ।। ८२ ।।

—इति केवलिभुक्तिनिराकरणम् ।

अथ तस्मिन्भवे स्त्रीणां मोक्षं ये निगदन्ति ।
ते दुराग्रहग्रहग्रस्ता जनाः किं वा तिरातलाः ॥ ८३ ॥
तपेऽपि दुर्द्धरं घोरं कुरुते यदि योषितः ।
तपोऽपि तद्भवे नूनं मुक्तिस्तस्या दवीयसी ॥ ८४ ॥
स्त्रीपुंसयोस्तु जीवत्वा विशेषस्तेन निश्चयात् ।
मोक्षाऽवाप्तिर्न नारीणां कथं मात्र प्रजायते ॥ ८५ ॥
यद्यस्ति जीव सामान्यदेशा स्त्री चातिशेषतः ।
मातङ्गीश्चीवरीमुख्याः किन्न [illegible] ॥ ८६ ॥
योनावशुद्धता नित्यं स्रवन्त्यार्तवादिभिः
आर्त्तवं जायते तासां प्रतिमासं [illegible] ॥ ८७ ॥
योनिकक्षाकुचस्थाने दृश्यन्ते [illegible] ।
सदा स्त्रीणां प्रजायन्ते तदङ्गे [illegible] ॥ ८८ ॥
प्रकृतिः कुत्सिता तासां लिङ्गं चात्यन्तनिन्दितम् ।
ततो न संयमः साक्षान्मुक्तिश्चापि कुतस्तना ॥ ८९ ॥
स्त्रीरूपतीर्थकर्तॄणां तल्लिङ्गकुचमण्डिताः ।
विद्यन्ते निहताः क्वापि प्रतिमाश्चेन्निगद्यतः ॥ ९० ॥
पक्षहानिर्न चेत्सन्ति सन्ति चेद्भण्डिमास्पदम् ।
इति दोषद्वयावाप्तौ न स्त्रीणां शिवसंभवः ॥ ९१ ॥
चक्रिकेशवरामादिमण्डलेशादिसत्पदम् ।
तथैव श्रुतकेवल्यं मनःपर्ययबोधनम् ॥ ९२ ॥
गणेशसूरिसत्पाठ्यायपदं स्त्रीणां भवेन्न चेत् ।

कथं सर्वज्ञता तासां जगत्पूज्या घटामटेत् ॥ ९३ ॥
कुलीनः कुशलो धीरः संयमी संगवर्जित. ।
निर्जिताक्षः पुमानेव वृणीते मुक्तिमानिनीम् ॥ ९४ ॥
—स्त्रीमुक्तिनिराकरणम् ।
निर्ग्रंथमार्गमुत्सृज्य सग्रन्थत्वेन ये जडाः ।
व्याचक्षन्ते शिवं नृणां तद्वचो न घटामटेत् ॥ ९५ ॥
ससङ्गत्वेन निर्वाणसाधनं यदि विद्यते ।
प्राज्यं राज्यं कथं त्यक्तमादिदेवेन ब्रूहि मे ॥ ९६ ॥
कुलीनोऽपि महाविद्य आद्यसंहननान्वितः ।
नरोनिर्ग्रन्थता भावान्न निर्वाति सुलक्षणः ॥ ९६ ॥
सचेलकम्बलं दण्डभिक्षापात्रादिसंयुतम् ।
साधुना नोपकरणं गृह्यते मोक्षकांक्षिणा ॥ ९८ ॥
गृह्णाच्चीवरादीनां भिक्षायूकाश्रयो भवेत् ।
निक्षेपाऽऽदानतस्तेषां क्षालनाच्च वधोज्झिनाम् ॥ ९९ ॥
चेलाऽभ्यर्थनया दैन्यं लब्धे स्यान्मोहसोऽपि च ।
ततः संयमताहानिर्नैर्मल्यं च कुतस्तनम् ॥ १०० ॥
ततः सङ्गद्वयत्यक्तं जिनलिङ्गं प्रशस्यते ।
ससम्यक्त्वस्य ज्ञानस्य मोक्षसौख्यस्य साधनम् ॥ १०१ ॥
संयमो जिनकल्पस्य दुःसाध्योऽयं ततोऽधुना ।
वृत्तं स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम् ॥ १०२ ॥
भावदेतद्वचोऽसत्यमज्ञात्वा लक्षणं तयोः ।
ततः स्थविरकल्पेऽपि नैवास्ति संगसंग : ॥ १०३ ॥

अथाऽभिधीयते तावज्जिनकल्पाख्यसंयमः ।
मुक्तिकान्तापरिष्वङ्गसौख्यं भुङ्क्ते यतो मुनिः ॥ १०४ ॥
सम्यक्त्वरत्नसद्भूषा विजितेन्द्रियवाजिनः ।
विदन्त्येकादशाङ्गं ये श्रुतमेकाक्षरं यथा ॥ १०५ ॥
क्रमयोः कण्टकं भग्नं चक्षुषोः सङ्गतं रजः ।
स्वयं न स्फेटयन्त्यन्यैरपनीतमभाषणम् ॥ १०६ ॥
दधानाः संततं मौ[illegible]ननाश्रिताः ।
कन्दर्य्यां कानने शैले वसन्ति तटिनीतटे ॥ १०७ ॥
षण्मासमवतिष्ठन्ते प्रावृट्कालेऽङ्गिसंकुले ।
जाते मार्गे निराहाराः कायोत्सर्गं समाश्रिताः ॥ १०८ ॥
नैर्ग्रन्थ्यपदमापन्ना रत्नत्रितयमण्डिताः ।
निर्वाणसाधने निष्ठाः शुभध्यानद्वये रताः ॥ १०९ ॥
यतयोऽनिश्चितावासा जिनवद्विहरन्ति वै ।
तस्मात्ते जिनकल्पाख्या गदिता गणनायकैः ॥ ११० ॥
अथ स्थविरकल्पा ये जिनलिङ्गधरा वराः ।
मुनयः शुद्धसम्यक्त्वसुधासन्धौतचेतसः ॥ १११ ॥
युक्ता मूलगुणैरष्टा विंशतिप्रमितैः शुभैः ।
ध्यानाऽध्ययनसंलीना धृतपञ्च महाव्रता ॥ ११२ ॥
पञ्चाचाररता नित्यं दशधा धर्ममण्डिताः ।
ब्रह्मव्रतेषु सन्निष्ठा बाह्यान्तग्रन्थवर्जिताः ॥ ११३ ॥
तृणे मणौ पुरेऽरण्ये मित्रेऽमित्रे सुखे दुःखे ।
समानमनयः शश्वन्मोहमानमदोज्झिताः ॥ ११४ ॥

धर्मोपदेशतोऽन्यत्र सदाऽभाषणधारिणः ।
श्रुतसागरपारीणाः केचनावधिबोधगाः ॥ ११५ ॥
मनःपर्ययिणः केचिद् गृह्णन्त्यवधिनः पुरा ।
चारु पञ्चगुणं पिच्छं प्रतिलेखनहेतवे ॥ ११६ ॥
विहरंति गणैः सार्कं नित्यं धर्मप्रभावनाम् ।
कुर्वन्ति च सुशिष्याणां ग्रहणं पोषणं तथा ॥ ११७ ॥
स्थविरादिव्रतित्रानत्राणपोषणचेतसः ।
ततः स्थविरकल्पस्था प्रोच्यन्ते सूरिसत्तमैः ॥ ११८ ॥
साम्प्रतं कलिकालेऽस्मिन्हीनसंहननत्वतः ।
स्थानीयनगरग्रामजिनसद्मनिवासिनः ॥ ११९ ॥
कालोऽयं दुःसहो हीनं शरीरं तरलं मनः ।
मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यताः ॥ १२० ॥

(?) उक्तं च—

वरिसमहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण कायेण ।
तं संपइ वरिसेण न णिज्जरइ हीणसंहणणे ॥ १२१ ॥
गृह्णन्ति पुस्तकाद्यं ये योग्यं संयमिनां शुचि ।
सावद्यसंभवाऽपेतं मुनयो मोक्षकांक्षिणः ॥ १२२ ॥
इदृक्स्थविरकल्पः स्यात्सकलोपधिविच्युतः ।
एष गृहस्थकल्पोऽन्यो यत्र चेलादिधारणम् ॥ १२३ ॥
ननु गृहस्थकल्पोऽयं कथं पतः पाण्डुरांशुक ! ।
परमक्षजनोपायाय न चायं क्षितशर्मणे ॥ १२४ ॥

—इति सवस्त्रनिर्वाणनिराकरणम् ॥

कथथन्ति कथं मूढा वर्धमानजिनेशिन ।
गर्भापहरणं निन्द्यं निवेकविकलाशया: ।। १२५ ।।
दिवानन्दाभिधा गर्भे वृषदत्तद्विजन्मनः ।
अवतीर्णे जिने विरेऽप्यमीति दिवसा गताः ।। १२६ ।।
ततो भिक्षुकुलं ज्ञात्वा शक्रस्तं गर्भमाप त् ।
सिद्धार्थनृपते पत्न्यां कथमेद्वचो भवेत् ।। १२७ ।।
वज्रिणा तत्कुलं पूर्वं विदितं वा न किं वद ।
विदितं चे पुरा किं न भ्रूणापहरणं कृतम् ।। १२८ ।।
न ज्ञातं चेत्कथं गभ शोधनादिक्रिया कृता ।
न कृता चे द्विशेषः कस्तीर्थेशाऽपरमर्त्ययोः ।। १२९ ।।
तथा च छिन्ननालोऽर्भो कथम यत्र वर्द्धते ।
छिन्नवृन्तं फलं यद्व क्षणात्क्षीणत्वमृच्छति ।। १३० ।।
गोपिका गोपिताऽन्यत्र वर्द्धेतेऽर्भो न किं तथा ।
मावदैतद्यतो मातृतुल्या सा कलत्रसुतः ।। १३१ ।।
मातुरन्यत्र निन्यापे भ्रूणस्य वद किं गतम् ।
बहुदूषणमद्वाक्यं तावकं तापकं सताम् ।। १३२ ।।
एवं बहुविधैर्वाक्यविरुद्धैः शास्त्रसंचयम् ।
प्रकल्पयंते जनान्मूढान्मशास्त्रमनानयन् ।। १३३ ।।
ततः सांशयिकं जातं मतं धवलवाससाम् ।
एवं स्वकल्पिते मार्गे वर्त्तन्ते ते दुराशयाः ।। १३४ ।।
तद्भक्तलोकपालाख्यमहीक्षिच्चित्रलेखयो ।

सुता नृकुलदेव्याख्या बभूव वरलक्षणा ॥ १३५ ॥
अध्यैष्टाऽनेकशास्त्राणि मनीषि स्वगुरोस्तु सा ।
कलाकुलकलाकांती रूपापास्तसुराङ्गना ॥ १३६ ॥
अवाप तारतारुण्यं तारुण्योद्धतनृप्रियम् ।
अथास्ति करहाटाख्यं दुर्गं द्रविणसंभृतम् ॥ १३७ ॥
तच्छास्ताऽऽचार्य वीर्यभृद् भूपो भूपालनामभाक् ।
कन्यां तां कमनीयांगी प्रमोदात्परिणीतवान् ॥ १३८ ॥
साऽसीत्सकलराज्ञीषु मुख्या पुण्यविपाकतः ।
तयामा विपुलान्भोगा भुंक्ते स्म विपुलामति ॥ १३९ ॥
अ यदाऽवसरं प्राप्य राज्ञया विज्ञापितो नृपः ।
स्वामिन्मद्गुरवः सन्ति मुक्तोमस्मत्पितुः पुरे ॥ १४० ॥
आनायय तान्भक्त्या धर्मकर्माऽभिवृद्धये ।
निशम्य तद्वचो भूभृदाहूयाऽमात्यमक्षमा ॥ १४१ ॥
बुद्धिसागरनामानमप्रैषीच्छ्रातुमादरात् ।
आसाद्यासौ गुरूं भक्त्या प्रवरप्रश्रयान्वितः ॥ १४२ ॥
भूपोऽभ्यर्थनयामात्यः पत्तनं निजमानयत् ।
निशम्याऽऽगमनं तेषां मुदमापपरं नृपः ॥ १४३ ॥
महताऽऽडम्बरेणासौ चचालीद्वन्दितुं गुरून् ।
दूरादालोक्य ता साधून् दध्यादिति सुविस्मयात् ॥ १४४ ॥
अहो ! निर्ग्रन्थताशून्यं किमिदं नौतनं मतम् ।
न मेऽत्र युज्यते गंतुं पात्रदण्डादिमण्डितम् ॥ १४५ ॥

व्याघुट्य भूपतिस्तस्मादागत्य निजमंदिरम् ।
भाषते स्म महादेवीं गुरवस्ते कुमार्गगाः ॥ १४६ ॥
जिनोदितबहिर्भूतदर्शनाश्रितवृत्तयः ।
परिग्रहग्रहग्रस्तान्नैतान्मन्यामहे वयम् ॥ १४७ ॥
सा तु मनोगतं राज्ञो ज्ञात्वा तद्गुरुसन्निधिम् ।
नत्वा विज्ञापयामास विनयानतमस्तका ॥ १४८ ॥
भगवन्मदाग्रहादस्या गृह्णीताम[illegible]नाम ।
निर्ग्रन्थपदवीं पूतां हित्वा सङ्गं मुदाऽखिलम् ॥ १४९ ॥
उररीकृत्य ते राज्ञ्या वचनं विदुषार्चितम् ।
तत्यजुः सकलं सङ्गं वसनादिकमञ्जसा ॥ १५० ॥
करे कमण्डलुं कृत्वा पिच्छिकां च जिनोदिताम् ।
जगृहुर्जिनमुद्रां ते धवलांशुकधारिणः ॥ १५१ ॥
विशांपतिस्ततो गत्वा सद्गुरुं भूरिसंभ्रमात् ।
नत्वातिभक्तितः साधून्समभ्यर्चनमानयत् ॥ १५२ ॥
तदातिवेलं भूपाद्यैः पूजिता मानिताश्च तैः ।
धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम् ॥ १५३ ॥
गुरुशिक्षातिगं लिङ्गं नटवद्भण्ड[illegible]म् ।
ततो यापनसङ्घोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ॥ १५४ ॥
श्वेतांशुकमतादेवमतभेदाः शुभातिगाः ।
अहंकृतिवशात्केचित्केचित्स्वचरणाश्रयात् ॥ १५५ ॥
स्वस्वाश्रयभिदा केचित् केचिद्दुष्कर्मपाकतः ।
ततो बभूवुर्भूयांसो मिथ्यामोहमलीमसात् ॥ १५६ ॥

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुताऽपरम् ॥ १५७ ॥
लुङ्कामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः ।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥ १५८ ॥
अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत् ।
लुङ्काऽभिधो महामानी श्वेतांशुकमताश्रयी ॥ १५९ ॥
दुष्टा मा दुष्टाभवेन कुपितः पापमण्डितः ।
तत्रमिथ्यात्वपाकेन लुङ्कामतकल्पयेत् ॥ १६० ॥
सुरेंद्रार्च्यां जिनेंद्रार्च्यां तत्पूजां दानमुत्तमम् ।
समुत्थाप्य स पापात्मा प्रतीपो जिनसूत्रतः ॥ १६१ ॥
तन्मतेऽपि च भूयांसो मतभेदाः समाश्रिताः ।
कलिकालबलं प्राप्य दुष्टाः किं किं न कुर्वते ॥ १६२ ॥
बहुधा दुर्मतैरेवं मोहान्धतमसावृतैः ।
जिनोक्तमूलमार्गोऽपी निर्मलः स मलीकृतः ॥ १६३ ॥
तथापि न प्रमाद्यन्ति संतस्तत्र सुखैषिणः ।
महामणि रजोलिप्तं किं न गृह्णन्ति सज्जनाः ॥ १६४ ॥
मलिनः किं भवेद्धर्मो निःशक्तस्यापराधतः ।
न हि भेके मृतेऽम्बोधिः प्राप्नोति पूतिगंधताम् ॥ १६५ ॥
विदित्वा सारतामन्यमतेष्वेवं सदर्शनाः ।
वितन्वंतु मतिं सर्वदर्शिना दर्शितेऽध्वनि ॥ १६६ ॥
निरम्बरमनोहारी निराभरणभासुरः ।

दशाष्टदोषनिर्मुक्त आप्तो स्याद्दोषः क्षुधादिभाक् ॥ १६७ ॥
तदाननेंदुसम्भूतं स्याद्वामृतगर्भितम् ।
विरुद्धागितं शास्त्रं शस्यते ना यज्जल्पितम् । १६८ ॥
निर्ग्रंथो ग्रंथयुक्तोऽपि रत्नत्रिनयराजितः ।
उद्धिरंति गुरुं रम्यं तम नं नैव ग्रंथिलम् । १६९ ॥
श्रद्धातव्यं त्रयं चेति हि वा दणनदुर्मनिम् ।
तथा निश्चित्य तत्वानि ग्राह्यं सम्यक् वमुत्तमम् ॥ १७० ॥
श्रेणिकप्रश्नतोऽवोचद्यथा वीरजिनेश्वरः ।
तथोद्दिष्टं मयाऽत्रापि ज्ञात्वा श्रीजिनसूत्रतः ॥ १७१ ॥
यः श्रीकोटपुरे जितामरपुरे सोमादिशर्मद्विजा—
दामीदकगुणाकरोऽङ्गजवरः सोमश्रियां सुश्रियाम् ।
प्रोत्तीर्णोऽमलबोधदुग्धजलधिं श्रित्वा गरीयोगुरुं
भद्रोऽसौ मम भद्रबाहुगणप. प्रद्योततां मानसे ॥ १७२ ॥
निर्भूपोप्यतिभासुरः कुनरनिक्षेपात्सदा तामसा—
न्निर्लेपोऽपि निरंम्तवैद्यविभवात्सद्बोधदक्सौख्यभाक् ।
कामोद्दामकरिमर्दनहरिः पञ्चाक्षकक्षानलः
सोऽर्हन्नो वितनोतु वाञ्छितसुखं भक्त्यार्हितोऽभिष्टुतः । १७३ ।
सद्दृष्टिमूलं श्रुततोयसिक्तं सुवृत्तशाखं प्रगुणाढ्णाढ्यम् ।
दद्यं सदाऽभीष्टफलप्रदाने भो ! धर्मदेवद्रुममाश्रय तु । १७४ ।
वादीभेन्द्रमदप्रमर्दनहरेः शीलामृताम्भोनिधेः
शिष्यं श्रीमदनन्तकीर्त्तिगणिनः सत्कीर्त्तिकान्ताजुषः ।

स्मृत्वा श्रीललितादिकीर्त्तिमुनिपं शिक्षागुरुं सद्गुणं ।
चक्रे चारुचरित्रमेतदनघं रत्नादिनंदी मुनिः ॥ १७५ ॥
भद्रबाहोश्चरितं वक्तुं शक्यतेऽल्पधिया कथम् ।
तथाप्यरीरचं हृद्यं हीरकार्योपरोधतः ॥ १७६ ॥
श्वेतांशुकमतोद्भूतमूढान् ज्ञापयितुं जनान् ।
व्यरीरचमिमं ग्रंथं न स्वपाण्डित्यगर्वतः ॥ १७७ ॥

इति श्रीरत्ननन्द्याचार्यविरचिते भद्रबाहुचरित्रे श्वेताम्बर
मतोत्पत्तियापलीसंघोत्पत्तिवर्णनो नाम
चतुर्थोऽधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।